प्रकाशक

शिवलाल अग्रवाल एन्ड कं० लि०

होसपिटल रोड, आगरा।

प्रथम संस्करण १९५६

मूल्य ३)

पं० श्रीकृष्णदत्त पालीवाल

विषय सूची

पृष्ठ १ से १२८ तक महावीर प्रेस आगरा में छपी।

पृष्ठ १२६ से २६२ तक गीतामन्दिर प्रेस आगरा में छपी।

"गान्धी-मार्ग"

गान्धीवाद के सम्बन्ध में एक विवाद-यह उठ खड़ा हुआ है कि वह कोई वाद है या नहीं ? स्वयं गान्धी जी का कहना है कि उन्होंने कोई नया वाद नहीं चलाया। उनके विख्यात व्याख्याता आचार्य कृपलानी गान्धीवाद के स्थान पर गान्धी-मार्ग नाम अधिक उपयुक्त समझते हैं मेरे मतलब के लिये वाद और मार्ग के विवाद को विशेष महत्व देने की कोई आवश्यकता नहीं। सुविधा के लिये मैं गान्धी-मार्ग और गान्धीवाद दोनों नामों को ही ग्रहण किये लेता हूँ।

गान्धी जी ने अपने महान जीवन में अनेक संस्थायें कायम की हैं; संसार को हिला देने वाले कई लोक हितकारी सार्वजनिक आन्दोलनों का सञ्चालन किया है, मनुष्य-जाति की आज की छोटी बड़ी सभी महत्वपूर्ण समस्याओं पर अपने विचार प्रकट किये हैं। उनके विचारों ने संसार भर के बड़े बड़े विद्वान विचारकों को अपनी ओर आकर्षित किया है और हिन्दुस्तान में करोड़ों पर उनके कार्यों और विचारों का स्थायी प्रभाव पड़ा है, और इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि उन्होंने भव-सागर के भंवरों में डूबी हुई मानव जाति को मुक्ति और उद्धार का एक नया मार्ग सुझाया और दिखाया है।

गान्धी जी के विरोधी और आलोचक कहते हैं कि उन्होंने

कोई नई बात नहीं कही। वे स्वयं गान्धी जी की इस बात को ले उड़ते हैं कि "मैं कोई नया मत अथवा वाद नहीं चला रहा; केवल पुराने सनातन सत्य की खोज कर रहा हूँ। इस कथन को तोड़ मरोड़ कर यह ठहराना कि गान्धीवाद अथवा गान्धी-मार्ग नाम की कोई चीज़ है ही नहीं, बहस-मुबाहिसों के लिये भले ही काम का हो परन्तु गम्भीर वैज्ञानिक-विवेचन में उसके लिये कोई स्थान नहीं। यह सही है कि सत्य और अहिंसा कोई नये सिद्धान्त नहीं है और न सत्य को ही परमेश्वर मानना ही नया आविष्कार है; परन्तु नित्य प्रति के दैनिक जीवन में तथा मानव जाति की सार्वजनिक उलझनों को सुलझाने के लिये इस पैमाने पर उनका प्रयोग संसार को एक मात्र गान्धी जी की देन है। सच्चाई तो यह है कि पूर्ण सत्य तो एक और सनातन है। उसकी खोज करने वाले साधकों को उसका जैसा और जितना दर्शन हो जाय उसी से भिन्न २ दर्शनों, वादों, मतों और मार्गों की सृष्टि होती है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट है कि गान्धी-दर्शन भी उतना ही नया और पुराना है जितना कि संसार का और कोई भी वाद या मार्ग ? मशहूर अंग्रेजी कवि पोप के शब्दों में विचार कितना भी पुराना हो और वह कितने ही बार क्यों न प्रकट किया जा चुका हो, अन्त में वह उसी का कहलाता है जो उसे उस वक्त तक कहे हुए ढङ्गों में सब से अच्छे ढङ्ग से कहता है। और यह सर्व मान्य बात है कि मानव-जाति के उद्धार के लिये सत्य और अहिंसा के प्रयोग के विचार को गान्धी जी ने ही, अब तक सब से अच्छे ढङ्ग से कहा है। इस दिशा में बुद्ध और

ईसा कोई भी उनका मुक़ाबिला नहीं कर सकता। गान्धी मार्ग का मूल ध्येय आध्यात्मिक है। गान्धी जी के प्रामाणिक मतानुसार जीवन का योग्य ध्येय परमात्मा का साक्षात्कार करना ही है। उनकी राय में जीवन के तमाम दूसरे काम इसी ध्येय को पूरा करने के लिये होने चाहिये। जो काम और प्रवृत्तियाँ इस ध्येय के विरोधी हों; उन्हें छोड़ देना चाहिये, फिर चाहे वे देखने में कितने ही फ़ायदेमन्द और ललचाने वाले क्यों न हों ? इसी तरह जो काम और प्रवृत्तियां इस ध्येय की साधक मालूम हों उन्हें अवश्य करना चाहिये। फिर चाहे उन्हें करने में कितनी ही जोखिम क्यों न उठानी पड़ें और वे ऊपर से हानिकर ही क्यों न मालूम होती हों ?

गान्धी जी के इस परमेश्वर का स्वरूप मन और वाणी से परे है। वह अनन्त, अनादि, सदा एक रूप रहने वाला, विश्व का आत्मा रूप अथवा आधार रूप और उसका कारण है। वह एक मात्र सनातन तथा चेतना और ज्ञानस्वरूप है। वे परमेश्वर को ही सत्य मानते हैं और उनकी राय में सत्य का अर्थ है परमेश्वर। उनका कहना है कि इस सत्य परमेश्वर का सगुण स्वरूप यह है कि जो कुछ हमें इस समय धर्म, न्याय और योग्य मालूम हो उसे निस्संकोच, स्वीकार और प्रकाशित करें और जो काम करना ही चाहिये, जिसके किये बिना मुँह दिखाना असंभव हो वही अपने लिये सत्य है।

सत्याग्रह को गान्धी जी सत्य परमेश्वर के साक्षात्कार का साधन मार्ग मानते हैं और इसी मार्ग को गांधी मार्ग मानना चाहिये।

गान्धी जी का यह सत्याग्रह सिद्धों, साधुओं, गृह-त्यागी पहाड़ों की गुफाओं में एकान्तवास करने वाले सन्यासियों के लिये ही नहीं है। वह हर स्त्री-पुरुष के लिये उसके जीवन में हर समय वर्त्तने के लिये है। यही गान्धी जी की नवीनता और मौलिकता है। लोक-कल्याण के लिये यही उनकी देन है। गान्धी जी के मतानुसार सत्याग्रह वही है जिसकी खोज हर शख्स हर वक्त करे और उस खोज से जैसा तथा जितना सत्य समझ में आ जाय उस पर हमेशा अमल करने की कोशिश करे। गान्धी जी ने साधकों को इस बात से भी सावधान कर दिया है वे सत्य की अनन्तता और विश्व की अपारता से घबड़ावें नहीं। अपने जीवन में जो छोटी बड़ी, अहम या मामूली बातें और काम 'कार्य-मित्येव' मालूम हों उन्हीं को करते हुए उन्हीं में सत्य का शोधन करते रहें तो जैसा पिन्ड में है वैसा ही ब्रह्माण्ड में है इस न्याय से, यानी ख्याली पुलाव न्याय से सत्य प्राप्त हो जायगा।

गान्धी जी का यह सत्याग्रह मनुष्यों को एकाकी या व्यक्ति-वादी न बनाकर लोक-सेवी बनाता है। क्योंकि गान्धी जी के मतानुसार जो शख्स अपने आस-पास फैले हुए असत्य अन्याय या अधर्म से उदासीन रहता है वह सत्य का साक्षात्कार नहीं कर सकता। सत्यानवेषिणी साधक के लिये यह जरूरी है कि वह असत्य अन्याय और अधर्म को मिटाने के लिये सत्यादि साधनों द्वारा तीव्र पुरुषार्थ करे; और जब तक उसमें सफल न हो तब तक अपनी सत्य की साधना को अधूरा ही समझे। इस तरह गान्धी-मार्ग सत्य-साधकों को कर्मयोगी, विश्व-सेवक बनाता है।

सत्य के परमेश्वर अर्थ के अलावा उसका साधारण अर्थ है, सत्य-आग्रह, सत्य-विचार, सत्य-वाणी और सत्य-कर्म। इस तरह गान्धी जी का सत्य सच बोलने मात्र से कहीं अधिक व्यापक है।

सत्य-आग्रह की व्याख्या उन्होंने इन शब्दों में की है, कि जिन सत्य और सनातन विषयों के बल विश्व का जड़-चेतन तक चलता है उनकी अथक खोज करते रहना और उसी के मुताबिक अपना जीवन बनाते रहना तथा सत्यादि साधनों द्वारा असत्य का प्रतिकार करना।

सत्य-विचार वे हैं जो हमारी राग-द्वेष रहित, निष्पक्ष तथा श्रद्धा-भक्ति युक्त बुद्धि को सदा के लिये अथवा जिन परिस्थितियों तक हमारी निगाह पहुँच सकती है उनमें ज्यादा से ज्यादा वक्त के लिये मुनासिब और न्याय्य मालूम हों।

सत्य-वाणी वह है जो कर्त्तव्य-रूप होकर हमारे ज्ञान और हमारी जानकारी को सही २ जाहिर करे। उसमें किसी तरह की ऐसी कोई कमीवेशी करने की कोशिश न करे कि जिसमें असली मतलब के अलावा मतलब निकल सके। विचार में सत्य मालूम होने वाले भाव को विवेक पूर्वक अमल में लाने का नाम सत्य-कर्म है।

ये सत्य-आग्रह, सत्य-विचार सत्य-वाणी और सत्य कर्म नामक अमर सत्य ही सत्य-परमेश्वर के जानने के साधन हैं। इन्हीं के पालन की पूर्ण-सिद्धि का नाम परमेश्वर का साक्षात्कार है। इस तरह गान्धी जी ने जीवन के ध्येय को परमेश्वर

के साक्षात्कार की प्राप्ति हमें संसार छोड़ने की नहीं; संसार में संसारी रहकर सत्याग्रह साधन करने में होती है।

गान्धी जी का कहना है कि इस सत्य की सिद्धि के लिये अहिंसा अनिवार्यतः आवश्यक है। वे अहिंसा की पराकाष्टा को ही सत्य कहते हैं उनके मतानुसार पूर्ण सत्य और पूर्ण अहिंसा में कोई भेद नहीं है। उन्होंने सत्य को साध्य और अहिंसा को साधन केवल समझने-बूझने की सुविधा के लिये माना है। यह अहिंसा आचरण का स्थूल नियम-मात्र नहीं है। बल्कि मन की एक ऐसी वृत्ति है जिसमें द्वेष की तो कहीं गन्ध तक नहीं है। प्रेम-स्वरूप ईश्वर और गान्धी जी की इस अहिसा में कोई भेद नहीं है। प्रेम के बदले अहिंसा शब्द का प्रयोग वे इसलिये पसन्द करते हैं चूँकि प्रेम में कई वार राग-द्वेष भी पाये जाते हैं। प्रेम में राग तो अक्सर पाया जाता है और जहाँ राग और मोह होता है वहां द्वेष का बीज होने की आशङ्का रहती है और अहिंसा में राग-द्वेष के लिये कोई गुञ्जाइश ही नहीं।

गान्धी जी ने यह बात भी साफ़ करदी है कि अहिंसा का भाव केवल दृश्य परिणामों में ही नहीं है बल्कि अन्तःकरण की राग-द्वेष हीन अवस्था में है। देखने में जहां ऐसा जान पड़ता हो कि किसी के मन या शरीर को दुःख या हानि पहुँच रही है वहां भी शुद्ध अहिंसा-धर्म का पालन हो सकता है और जहां इस तरह का दुःख या नुक़सान पहुँचाने की कोई भी बात न की गई हो वहां भी हिंसा न हो। उन्होंने यह चेतावनी भी देदी है कि दृश्य परिणामों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये क्योंकि इन

स्थूल लक्षणों से अपने या दूसरे के हृदय में अहिंसा वृत्ति कितनी बढ़ी है। इसका साधारण नाप मिल जाता है।

गान्धी जी की इस अहिंसा में प्रचण्ड-कार्य-साधक-शक्ति भरी हुई है। वह केवल निष्क्रिय या निवृत्ति रूप नहीं वल्कि प्रबल प्रवृत्ति और प्रक्रिया रूप है। यदि कोई साधक स्वयं मनसा-वाचा-कर्मणा अहिंसात्मक हो जाय तो भी उसकी अहिंसा की साधना पूरी नहीं हो सकती। गान्धी जी की अहिंसा साधना की पूर्त्ति के लिये यह अनिवार्यतः आवश्यक है कि साधक स्वयं मनसा-वाचा-कर्मणा अहिंसात्मक होने के साथ २ जगत् में फैले हुए, दूसरों के दुःखों का भी दर्शन करे और निरन्तर उन्हें दूर करने के उपायों की खोज करता रहे।

सत्य और अहिंसा दोनों की सिद्धि के लिये ब्रह्मचर्य भी अनिवार्यतः आवश्यक है इस ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल वीर्य-रक्षा अथवा काम-जय ही नहीं है वल्कि सभी इन्द्रियों का संयम करके ब्रह्म अथवा परमेश्वर की ओर जाना। अर्थात अपने मन और अपनी इन्द्रियों को परमेश्वर को पाने के रास्ते पर लगाये रखना है।

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये अस्वाद आवश्यक है। गान्धी जी की राय है कि एक भी इन्द्रिय यदि स्वच्छन्द बन जाय तो दूसरी इन्द्रियों का नियन्त्रण भी ढीला पड़ जाता है फिर भी ब्रह्मचर्य की दृष्टि से स्वादेन्द्रिय जिह्वा सब से कठिन और महत्वपूर्ण है। शरीर में जो तत्व घिसते चले जाते हैं उन्हें पूरा करने के लिये शरीर को कार्य-क्षय स्थिति जितने और जिस तरह के भोजन की

ज़रूरत है वैसा और उतना ही भोजन करना अस्वाद-व्रत है। जीभ के स्वाद के लिये किसी चीज़ को खाना या खुराक में शामिल करना अथवा ज़रूरत से ज्यादह खाना अस्वाद व्रत का भंग है।

गांधीजी के अस्तेय का अर्थ सिर्फ इतना ही नहीं है कि जिस चीज़ के मालिक हम नहीं हैं जो हमारी नहीं है उसे हम न लें। उनकी राय में जो चीज़ हमारी मानी जाती हो लेकिन जिसकी हमें ज़रूरत न हो उसका इस्तैमाल करना भी चोरी है। गांधीजी का अपरिग्रह भी इसी प्रकार बहुत व्यापक है। जो पदार्थ आज हमारे लिए आवश्यक नहीं है उसे भविष्य की चिन्ता रख कर संग्रहीत करना परिग्रह है। परमेश्वर पर भरोसा रखने वाला इस लिये किसी पदार्थ के संग्रह करने के फेर में नहीं पड़ता क्योंकि वह यह मानता है कि जिस वस्तु की जब निश्चित् रूप से आवश्यकता होगी तब वह अवश्य प्राप्त हो जायगी। इसके मानी यह नहीं हैं कि इस विश्वास की आड़ लेकर मनुष्य सशक्त होने पर परिश्रम नहीं करता। परमेश्वर उसी के निर्वाह की चिन्ता करता है जो अपनी शक्ति पर पूरा श्रम करता है और श्रम करने में प्रतिष्ठा समझता है। अपरिग्रह के माने यह भी नहीं हैं कि समाज में रहते हुए मनुष्य अपने पास आई हुई वस्तुओं को चाहे जहाँ फेंक दे या बिगड़ने दे बल्कि वह अपने को उनका रक्षक समझे और उन्हें हिफाजत से रक्खे। दूसरों को उनकी जरूरत हो तो उन पर या भविष्य के लिए अपना व अपने बाल-बच्चों का अधिकार न समझ कर उन दूसरों को उनका इस्तैमाल करने दे।

गांधीजी का अपरिग्रह सर्व हारा होने में ही नहीं सर्व सम्पन्न होते हुए भी उपर्युक्त मनोवृत्ति रखने में है।

शारीरिक श्रम की प्रतिष्ठा पर गांधीजी बहुत ज़ोर देते हैं। उनकी राय में जो पदार्थ विना परिश्रम के नहीं पैदा होते और जिनके विना जीवन नहीं निभसकता उनके लिये विना शारीरिक परिश्रम किये उनका उपयोग करना जगत के प्रति अपने आपको चोर ठहराना है। यही परिश्रम निष्काम वुद्धि से, जगत के हित के लिए किया जाय तो वही यज्ञ की प्रतिष्ठति पदवी पाता है फिर चाहे वह कार्य कूड़ा, करकट, मल, मूत्रादि की उचित व्यवस्था करने के लिए ही क्यों न हो, इसी दृष्टि से गांधी जी अपनी आवश्यकताओं और निजी परिग्रह को यथा सम्भव घटाने और भारतवर्ष की वर्तमान परिस्थिति में कताई और मल मूत्रादि की सफाई के निष्काम कार्य को यज्ञ कहते हैं। गांधीजी का स्वदेशी व्रत भी केवल देशाभिमान के विचार से नहीं, धर्म विचार से सम्भव है। 'वसुधैव कुटुम्बकम' की भावना रखते हुए भी जिन पड़ोसियों में हमारा जीवन दिन रात गुजरता है उन्हीं के साथ पहले आत्मो पाय व्यवहार करना उचित है इसकी उपेक्षा करने पर विश्व वन्धुत्व केवल दिखाने में परिणित हो जाता है। गांधीजी का यह धर्म रूप स्वदेशी स्वराष्ट्र कल्याण कामना करते हुए भी पर राष्ट्र का अकल्याण नहीं चाहता या करता।

कायर गांधीजी की अहिंसा का पालन नहीं कर सकते। गांधी जी की सम्मति में जो मनुष्य डरता है वह धर्माधर्म का गहरा विचार करने का साहस ही नहीं कर सकता न वह सत्य खोजी

या सत्याग्रही हो सकता है उनकी राय में मनुष्य के लिए डरने योग्य वस्तु सिर्फ एक ही है, उसकी अपनी विकार युक्त चित्रवृत्ति। परन्तु गांधीजी का अभय अहंकार नहीं है। क्योंकि उनके मत में जो अहंकारी हैं वह सर्वात्माभाव नहीं रख सकता।

वे नम्रता को अहिंसा का ही एक अंश मानते हैं। मनुष्य आदर्श को पहुँचने में अपनी कमियों के प्रति अच्छा नहीं होता। न उनका समर्थन ही करता है। उन्हें वह पूर्ण रूप से स्वीकार करता है। अपनी मर्यादा को समझता हुआ वह सत्य अहिंसा की शक्ति में श्रद्धा रख कर उनको अपने जीवन में चरितार्थ करने का प्रयत्न करता है। अपनी सम्मति में जो आचरण सत्य विचार के अनुसार प्रतीत हो उसे करने और उस पर दृढ़ रहने तथा उसके विपरीत कभी आचरण न करने की प्रतिज्ञा को गांधीजी व्रत कहते हैं। मन वचन कर्म से सत्य निष्ठ आत्म स्थित रहने की अवस्था को प्राप्त करने के लिये ऐसी प्रतिज्ञायें आवश्यक बताते हैं। वे चंचल मन को व्रत रूपी बेड़ियों से कस लेने को उसे स्थिर रखने का एक अच्छा उपाय बताते हैं। उनका व्रत असत्य या भोगादि में नहीं होता। उनकी राय में व्रत जब तक यह न प्रतीत हो कि वह असत्य है तब तक किसी भी दशा में तोड़ा नहीं जा सकता। ऐसे व्रत का पालन करते हुए जो कठिनाइयाँ आवें उनका सामना करना चाहिये।

गांधीजी की उपासना के मानी हैं परमेश्वर के निकट बैठना। गांधीजी के लिए सत्य रूप होने का नाम है उपासना। सत्य रूप होने की तीव्र इच्छा करना, उसके लिए भगवान से विनती करना

ही उनकी प्रार्थना है। सत्य-रूप होने के मानी हैं निर्विकार होना। यह उपासना श्रद्धा का विषय है न कि बुद्धि का। वह आत्मा का विषय है। यह सत्य रूप परमेश्वर प्राणि-मात्र के भीतर वसता है। अतः प्राणि-मात्र से एकत्व की सिद्धि करना आवश्यक है। यह सिद्धि जीवमात्र की निष्काम सेवा करने से मिलती है।

गांधीजी सब धर्मों के प्रति समभाव रखते हैं। उनकी राय में किसी धर्म में सत्य का अभाव नहीं है न किसी धर्म में पूर्ण सत्य है। उनकी राय में सब धर्मों में परिवर्तन और विकास के लिए जगह है। वे केवल यह चाहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य अपने-अपने धर्म के सर्वोत्तम सिद्धान्तों का यथावत् पालन करे। उनका सत्य शोधन अपने जन्म-धर्म का त्याग किए बिना ही प्रत्येक धर्म में से सत्य के विकसित अंश को ग्रहण कर लेगा और इसीलिये सब धर्मों के अनुयायी की तरह प्रतीत होगा।

सब धर्मों के प्रति सम-भाव रखने के माने यह नहीं है कि कायरता-वश अधर्म का विरोध न किया जाय। हाँ, अधर्म का विरोध करते हुए वह अधर्मी से द्वेष न करेगा। यानी अधर्मी का विरोध वह सत्य और अहिंसामय साधनों से ही करेगा। यही गांधी-मार्ग है जिस पर चल कर साधक-गांधीजी के इससे पहिले कहे हुए ध्येय के सत्य को प्राप्त कर सिद्धि पा सकते हैं। इस मार्ग को गांधीजी सत्याग्रह के नाम से कराते हैं।

स्वयं सत्यादि धर्मों के पालन का आग्रह रखना और सत्यादि साधनों के द्वारा यानी अहिंसा मय साधनों से अधर्म का विरोध करना ही सत्याग्रह है। इस सत्याग्रह के लिए आवश्यक शक्ति

हमें अपने आचरण में सत्यादि नियमों के पालन से ही प्राप्त हो सकती है। उसी से हमें सत्याग्रह के उचित विधि-विधान सूझ सकते हैं।

गांधीजी की राय में हिन्दुओं के लिए हिन्दू-धर्म काफी हैं। सत्य शोधक को अपनी आध्यात्मिक उन्नति करने के लिए उसमें काफ़ी सामिग्री मिल जाती हैं। गाधीजी का कहना है कि सनातन हिन्दू धर्म एक सच्चिदानन्द परमात्मा को ही मानता है। जो मन और वाणी से परे है। फिर भी वह परमात्मा की विभूति-रूप अनेक देवी देवताओं की, ऐतिहासिक व्यक्ति की सद्गुरु की उपासना भी, उपासक को रुचि के अनुसार पर्याप्त स्वतन्त्रता देती है। इन उपासनाओं में हिन्दू धर्म ने समन्वय करके मूर्ति पूजा का निषेध नहीं किया। सनातन हिन्दू-धर्म पुनर्जन्म और मोक्ष के सिद्धान्त को मानता है। उसमें वर्णाश्रम-व्यवस्था के लिए महत्व का स्थान है। गो-रक्षा उसका सबसे बड़ा वाह्य-स्वरूप है। "वैष्णव जन तो तेने कहिए।" भजन में जो लक्षण वताये गये हैं। वे गांधीजी की राय में सनातन हिन्दू-धर्म के सच्चे चिन्ह हैं। हिन्दू-धर्म के दो ग्रन्थों को भगवद् गीता और तुलसी कृत रामायण को गांधीजी ने नित्य-मनन और गहरा अध्ययन करने योग्य और काफ़ी माना है। गीता तत्व-दर्शियों और सूक्ष्म-विवेचकों के लिए है और रामायण सरल तथा सुबोध रीति से धर्म, ज्ञान, भक्ति, वैराग्य आदि का रहस्य समझने के लिए बेजोड़ है।

गांधीजी की सम्मति में अनासक्ति-योग गीता का ध्रुव पद

है। कर्म के फल की अभिलाषा को छोड़ कर सतत कर्त्तव्य-कर्म में निरत रहना ही गीता का उपदेश है। उसमें दुष्कर्म का निषेध है और फलासक्ति छोड़ कर सत्कर्म करने का विधान है। गांधीजी का कहना है कि सत्य और अहिंसादि का पूर्ण से पालन किए विना इस योग की सिद्धि असम्भव है। उनकी राय में गीता में प्रस्तुत महाशब्दों के अर्थ प्रत्येक युग में बदलेंगे और विस्तार पावेंगे।

गांधीजी की राय में वर्णाश्रम-धर्म हिन्दू-धर्म का सच्चा नाम है। कोई भी हिन्दू उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। लेकिन वे इस बात के लिए तैयार हैं कि उसे अच्छी तरह समझ लेने के बाद वह दोषपूर्ण मालूम हो तो ज्ञान-पूर्वक उसका त्याग कर दिया जाय। गांधीजी को वर्णाश्रम-व्यवस्था की इस कल्पना के पीछे सिद्धान्त का ज्ञान ऐसा ज्ञान समाया हुआ है। जो मानव मात्र पर लागू है। ये सिद्धान्त केवल हिन्दुओं पर ही लागू नहीं होते। गान्धी जी की राय में आज नहीं तो कल समस्त जगत् को इन सिद्धान्तों को स्वीकार करना पड़ेगा।

वर्ण के मानी करके वर्ण-धर्म के सिद्धान्त को संक्षेप इस प्रकार रखते हैं:—"जो मनुष्य जिस कुटुम्ब में पैदा हो, उसके धंधे को अगर वह रीति विरुद्ध न हो तो धर्म भावना से करे और उसमें जो अर्थ-प्राप्ति हो उसमें से अपनी सामान्य आजीविका का हिस्सा रख कर बाकी सार्वजनिक कल्याण में लगावे। हरेक को अपने कर्म को धर्म समझ कर उसका पालन करना चाहिए उससे उदर-पोषण न हो तब भी करना चाहिये।

लेकिन गांधी जी वर्ण-वर्ण के बीच ऊँच-नीच का भेद नहीं मानते वे वर्ण-मात्र को समान मानते हैं।

वे वर्ण का निर्णय सामान्यतः जन्म से मानते हैं। क्योंकि मनुष्य को सामान्यतः अपना पैत्रिक धंधा करने की कला विरासत में मिलती है। यह नियम सर्वव्यापक और उपयोगी है। इस धर्म-व्यवस्था में ब्राह्मण, ब्रह्म को पहिचानने में और दूसरों को उसका उपदेश करने में समय बितावे और ऐसा करते हुए भगवान उसे उसकी आजीविका देते हैं यह माने। क्षत्रिय प्रजा-पालन का धर्म पाले और इसके लिये अपनी आजीविका के वास्ते मर्यादित द्रव्य ले। वैश्य प्रजा के कल्याण के लिये खेती गोपालन, और व्यापार करे। यह करते हुए जो धन प्राप्ति हो उसमें से अपनी आजीविका भर को लेकर बाकी को लोक-कल्याण के काम में लगावें। शूद्र भी अपनी परिचर्या इसी प्रकार धर्म समझ कर करें।

इस व्यवस्था में जिसके पास जो मिल्कियत होगी वह उसकी निजी न होगी। वह केवल उसका सारी प्रजा के हित के लिए संरक्षक-रखवाला मात्र होगा, स्वामी नहीं। राजा के लिए भी यही नियम लागू होगा।

विचारों के अनुसार महात्मा जी सम्पत्ति-हीन शूद्र को सर्वोपरि, हजारों में वन्दना करने योग्य मानते हैं।

यह वर्ण-धर्म केवल साम्यवाद नहीं, समता का है। वह जगत् में फैली हुई विषमता की जगह समता का साम्राज्य स्थापित रखता है। सब धन्धों की प्रतिष्ठा और कीमत में एक समान

मानता है। उसमें राजा और राजा के वजीर से लेकर भङ्गी तक समान कमाते हैं।

गांधी जी यह मानते हैं कि इस प्रकार के वर्ण-धर्म का आज लोप हो गया है। आज तो वर्ण का संकट ही है। इसी कारण हम कालवश होकर दासता को प्राप्त हुये हैं।

ऊँच नीच का भाव, वर्ण-धर्म का वक्र-विकराल रूप है। गान्धी जी यह मानते हैं कि व्यवहारों में मर्यादा हो। खाद्या-खाद्य—विवेक हो, बेटा-बेटी के लेन-देन में भी नियम को स्थान रहे परन्तु यह नहीं मानते कि रोटी-बेटी के ऊपर वर्ण-धर्म अव-लम्बित है। वे वर्ण और आज की जातियों के बीच जमीन व आसमान का फर्क मानते हैं। उनकी राय में जातियां और उप-जातियां लुप्त हुई वर्ण-व्यवस्था के खण्डहर मात्र हैं। आकस्मिक कारणों से और रूढ़ि से उत्पन्न प्रथा मात्र से वर्ण व्यवस्था नहीं, जाति बन्धन है, इस जाति बन्धन से हिन्दू-जाति का नुक़सान है। इस कारण इसका नाश करना चाहिये। गान्धीजी की राय में वर्ण, चार के बजाय कम, ज्यादा हो सकते हैं और होने भी चाहिए।

गान्धी-वाद के अनुसार आश्रम-व्यवस्था की उत्पत्ति भी प्रकृति नियमों को व्यवस्थित रूप से व्यवहार में लाने के प्रयत्न में से हुई है। उसके अनुसार सब वर्ण के लोगों को सब आश्रमों में प्रवेश करने का अधिकार है। प्रत्येक पुरुष को पचीस वर्ष तक और प्रत्येक स्त्री को अठारह वर्ष तक पवित्रता - पूर्वक ब्रह्मचर्या-श्रम में रहना चाहिए। गृहस्थाश्रम पर धर्म मार्ग के अनुसार राष्ट्र की सम्पत्ति बढ़ाने का विशेष भार है। यह भी भोग-विलास के

लिए नहीं है। इसमें भी सादगी और संयम से रहना आवश्यक है ? व्यभिचारी या स्वेच्छाचारी जीवन के अन्त में वानप्रस्थ या सन्यास असम्भव है। जिसने इन्द्रियों को रोक लिया है वह राग-द्वेप पर पूरी विजय न पा सका हो तो भी वानप्रस्थ है और जिसने राग-द्वेप को पूर्णतया जीत लिया है; और मन-वचन-कर्म से सत्य-अहिंसादि कर्मों का पालन करता है वह सन्यासी है। ऐसा सन्यासी भित्ता पर निर्वाह करके निष्काम भाव से सेवा-कार्य कर सकता है। आश्रमों का वाहरी वेश-भूपा से कोई सम्वन्ध नहीं है।

गान्धी जी की राय में हिंदू जाति में स्त्री-जाति के प्रति जो तुच्छ भाव देखा जाता है वह एक दोष है, धर्म का अङ्ग नहीं। स्त्री-पुरुषों में प्रकृति भेद और तद्नुसार नित्य जीवन में उनके कर्त्तव्य भिन्न होते हुए भी दोनों में न कोई ऊँचा है न नीचा। दोनों समाज के एक से महत्त्वपूर्ण और प्रतिष्ठा-पात्र अङ्ग हैं।

गान्धी जी के मतानुसार जो माता-पिता पालन-पोषण और शित्तण के विषय में लड़के और लड़की में भेद-भाव करते हैं और लड़की के प्रति अपने कर्त्तव्य कम समझते हैं वे पाप करते हैं। वयः प्राप्त पुरुष को जितनी स्वतन्त्रता का अधिकार है वयः प्राप्त-स्त्री को भी है। उन्हें भी उतनी ही स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। गान्धी जी स्त्री को अबला नहीं, सबला मानते हैं। उसमें अपार शक्ति छिपी पाते हैं जो उनकी तीव्र श्रद्धा-भावना के वेग और त्याग-शक्ति सबूत है। सार्वजनिक कार्यों में स्त्री को पुरुप के बराबर ही योग देना चाहिए। मद्य-पान निषेध पति-

पत्नियों का उद्धार, आदि कार्यों को स्त्री ही अधिक सफलता के साथ कर सकती है। स्त्रियों को जीवन-पर्यन्त ब्रह्मचर्य पालने का अधिकार है। उनके लिए विवाह अनिवार्य नहीं। न वे अपनी इच्छा के विरुद्ध पति की काम-वासना को तृप्त करने के लिए बाध्य हैं।

अस्पृश्यता के सम्बन्ध में गान्धी के विचार यथोचित उग्र हैं। वे उसे हिन्दू धर्म का अङ्ग नहीं उसमें घुसा हुआ एक महान दोष, अन्ध विश्वास और पाप करार देते हैं और उसे दूर करना प्रत्येक हिन्दू का परम धर्म बताते हैं। अस्पृश्य तथा दूसरी दलित या पिछड़ी हुई जातियों में सेवा के लिए अपना जीवन व्यतीत करना, इस कार्य में उदारता पूर्वक सहायता करना इस युग के प्रति प्रत्येक संस्कारवान हिन्दू का पवित्र कर्म घोषित करते हैं।

गान्धीजी खाद्य-पदार्थों की मर्यादा को आवश्यक मानते हुए भी उसमें छूत छात रखना बुरा बताते हैं सहभोजों में वे कोई दोष नहीं मानते, चौका-भेद और पंक्ति-भेद को वे धर्म का लक्षण नहीं मानते, उनका कहना है कि ऐसे भेद-भाव ने हिन्दू धर्म को हानि पहुँची है। विवाह सन्तानेच्छा को पूर्ण करने की शुद्धि विधि का नाम है। विवाहेच्छु युवक, युवती अपने लिये वधू या वर खुद पसन्द करें इसे वे आमतौर पर इष्ट नहीं मानते। विवाहेच्छुकों को अपनी विवाह सम्बन्धी शर्तें अपने बुजुर्गों व बुजुर्गों जैसे मित्रों से कहना चाहिये और इन बुजुर्गों को युवक, युवती के स्वभाव, गुण, दोष तथा विचारों पर ध्यान देकर उनके लिये योग्य साथी तलाश करना चाहिये। दोनों को एक-

दूसरे के गुण दोषों से या जीवन में घटी बताने योग्य बातों से अवगत कर देना चाहिये। युवक, युवती को मर्यादा पूर्वक परस्पर मिलकर परिचय प्राप्त करने या बात-चीत करने की सुविधा दी जा सकती है। विवाह के पूर्व स्पर्श की उचित मर्यादा में रह कर ब्रह्मचर्य-पालन का आग्रह रखते हुये दोनों एक-दूसरे से पत्र-व्यवहार करें या मिलें-जुलें, एक-दूसरे का उत्कर्श करने वाली बातें करने के लिये तो इसमें दोष नहीं। विवाह के बाद भी मर्यादा और विवेक से काम लेना चाहिये। विवाहोपरान्त भी एक-दूसरे की रजामन्दी या प्रजोत्पादन की इच्छा, स्थिति, अथवा शक्ति के बिना संयोग पाप है। गान्धीजी संतति-निग्रह की आवश्यकता मानते हैं परन्तु उसका धर्मयुक्त मार्ग ब्रह्मचर्य को ही बताते हैं। संतति-नियमन के कृत्रिम उपायों को वे धर्म और नीति के विरुद्ध तथा परिणाम में विनाशकारी मानते हैं। पति-पत्नी में से जो कोई चाहे दूसरे के सहयोग से परन्तु उसकी सम्मति न होने पर ब्रह्मचर्य रख सकता है। गांधी जी की राय में विधवा से जबर्दस्ती वैधव्य पालन नहीं कराना चाहिये। विधुर को पुनर्विवाह करने का जितना अधिकार है उतना ही विधवा को भी है। पन्द्रह-सोलह वर्ष से पहले किये गये कन्या के विवाह में उसे जो वैधव्य प्राप्त हो वह वैधव्य नहीं है। ऐसी विधवा को कुँआरी कन्या समझ कर मा-बाप को उसके विवाह की उतनी ही चिन्ता करनी चाहिये जितनी की कुँआरी की। विधुर युवक का धर्म है कि वह विधवा से शादी करे।

हिन्दू-युवक बाल-विधवा से शादी करने का आग्रह करे यह वांछनीय है।

गान्धी जी साधारणतः अपने ही वर्ण में विवाह करने की मर्यादा को साधारणतः इष्ट समझते हैं परन्तु आज-कल जब कि वर्ण-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई है तब स्वधर्मियों में गुण, कर्म के अनुसार विवाह करने में कोई अनौचित्य नहीं। ऐसा वर्णशंकर विवाह निर्दोष है और परधर्मी या परदेशी के साथ विवाह करने में भी धर्म का प्रतिबन्ध नहीं। परन्तु विघ्नों की सम्भावना से ऐसे विवाह पारमार्थिक हेतु से अपवाद रूप ही होने चाहिये।

खण्ड-सत्याग्रह

गांधीजी का विश्वास है कि व्यक्ति की प्रगति अपने समाज की साधारण धर्म-प्रगति से बहुत अधिक नहीं हो सकती। इस-लिये समाज में प्रचलित अधर्म का विरोध करना व्यक्ति का कर्तव्य हो जाता है और किसी व्यक्ति को जिस अंश तक अधर्म के विष का स्पष्ट रूप से अनुभव हुआ होगा उसी अंश तक उसका विरोध करना वह अपना कर्तव्य समझेगा और उसमें अपना सारा बल लगावेगा।

गांधी जी यह मानते हैं कि सत्याग्रह-तत्व का शास्त्र अभी परिपक्व नहीं हुआ है। इसका प्रयोग अभी बाल्यावस्था में है। इसका प्रयोग करने वाला, इसके सामर्थ्य की खोज करने वाला और उसे आजमाने वाला पूर्ण शास्त्री अभी तक दृष्टिगोचर नहीं हुआ। इसलिये इसमें सब प्रकार के अधर्मों, अन्यायों कलहों आदि के निवारण के तैयार नुसखे मिलने सम्भव नहीं। हां, सत्याग्रह

ये श्रद्धा रक्खे कि सत्य और अहिंसा में ये शक्तियाँ अवश्य हैं। उनकी खोज में यत्नशील रहे और तात्कालिक असमर्थता से निराश व निष्क्रिय न हो।

ऐसे अवसर भी आ सकते हैं जब सत्याग्रही को हिंसा में कुछ न कुछ भाग भी लेना पड़े जैसे अपराधी को सजा कराने में या युद्ध-काल में अपने राज्य की सहायता करने में, परन्तु ऐसे अवसरों पर भी वह अपनी सहायता की रीति-नीति में अपनी सारी सत्य-निष्ठा और अहिंसावृत्ति का परिचय देता है और अहिंसात्मक-मार्ग खोजने का प्रयत्न करता है।

सत्याग्रह का बुनियादी सिद्धान्त यह है कि मनुष्य-मात्र के हृदय में सत्य की सर्वोपरिता का गुप्त निश्चय, उसके प्रति आदर और भय रहता है जिसे 'अन्तःकरण की आवाज' कह सकते हैं। विरोधी के हृदय की इसी अन्तःकरण की आवाज को जागृत करना प्रत्येक सत्याग्रही का साध्य है।

जो सत्याग्रही इस श्रद्धा से कि अधर्म को मिटाने का धर्म-युक्त उपाय अवश्य होना चाहिए, उत्कटता के साथ विचार करेगा उसे विरोध करने की उचित पद्धति अवश्य मालूम होती जायगी। सत्याग्रह में सत्याग्रही को ही कष्ट उठाना पड़ता है इसलिए सत्याग्रह के फलस्वरूप विरोधी के साथ कटुता नहीं बढ़ती बल्कि घटती है और सत्याग्रह के अन्त में दोनों पक्ष मित्र बन जाते हैं। सङ्घ-बल सत्याग्रह-शास्त्र की शक्ति को बढ़ा सकता है परन्तु वह उसका अवलम्बन है। सच्चा सत्याग्रही वही है जो अकेला रहने पर भी अपने निश्चय पर डटा रहे। सत्याग्रही

झूठी प्रतिष्ठा के कारण अपनी भूल स्वीकार करने में कभी न हिचकेगा।

निजी अन्याय के लिए झट से सत्याग्रह नहीं कर बैठना चाहिये। हाँ, यदि ऐसे अन्याय की जड़ में कोई सामाजिक अहित भी हो तब साधारणतः सत्याग्रह के द्वारा उसका विरोध करना चाहिए।

वैयक्तिक अन्यायों के हरेक झगड़े में सत्याग्रही का पड़ना सम्भवनीय नहीं है। ऐसी अवस्था में उसी अपने सामर्थ्य, मर्यादा, अन्याय का प्रकार, उसका तात्कालिक महत्व, न्याय प्राप्त करने के सर्वमान्य और विधिविहित साधनादि का विचार करना होगा। स्पष्ट आवश्यकता प्रतीत होने पर प्राण देकर भी अन्याय रोकने का प्रयत्न होना चाहिए।

कानून की ओट में, न्याय और धर्म का ढोंग रचकर जो अन्याय होते हैं उनके विरुद्ध साधारणतः सत्याग्रह का प्रयोग वांछनीय नहीं जबतक कि ऐसा पाखण्ड चारों ओर न फैल जाय। परन्तु जो अन्याय या अधर्म बिल्कुल बेहयाई से, इस बात से कि तुम से जो कुछ हो सके करलो, होता हो, अथवा उसीको न्याय, धर्म या कानून का नाम दिया जाता हो, तो सत्याग्रह कर्त्तव्य-रूप हो जाता है क्योंकि ऐसे अधर्म और अन्याय को सहन कर लेने वाले की सत्यता हानि होती है।

सत्याग्रह में समझाने-बुझाने से लेकर उपवास, असहयोग, सविनय भङ्ग, अन्यायी कुटुम्ब राज्य, समाज आदि का त्याग, अपने न्याय अधिकार का शान्ति के साथ अमल, और इन

सबको करते हुए जो कुछ संकट आ जावें उन्हें प्रसन्नता के साथ सहन करना आदि अनेक प्रकार हो सकते हैं। अभी सत्याग्रह की सभी शक्तियों का पता नहीं लगा है। जो तपस्वी मनसा-वाचा-कर्मणा सत्य और अहिंसा का पालन करता हुआ इसकी शक्तियों का पता लगाता रहेगा उसे इसके नये-नये प्रकार सूझते जावेंगे।

विरोधी को समझा-बुझाकर सत्योपचार से काम लेने का प्रयत्न करना सत्याग्रह की पहली सीढ़ी है। यह असफल हो जाय तब भी विरोधी को अन्तिम मौका दिये बिना आगे नहीं बढ़ जाना चाहिये। आगे कदम बढ़ा चुकने पर भी समझौते के लिए तैयार रहना चाहिए। मित्रता और सुलह की इच्छा को नहीं छोड़ना चाहिए।

आम तौर पर उपवास रूपी सत्याग्रह कुटुम्बी, निजी मित्र, गुरु, शिष्य, गुरुभाई आदि निजी परिचित लोगों के प्रति ही किया जा सकता है वह भी निजी अन्याय से कारण नहीं। तंत्र के प्रति उपवास अन्तिम शस्त्र है।

जहाँ पहले दोनों पक्षों में सहयोग होता चला आया हो वहाँ असहयोग रूपी सत्याग्रह उपयोग में लाया जा सकता है। लेकिन जहाँ ऐसी स्थिति हो कि हमारी मदद के बिना दूसरे पक्ष का व्यवहार चले ही नहीं, वहाँ असहयोग बहुत उग्र सत्याग्रह कहना चाहिए। जब यह प्रतीत हो कि विपक्षी हमारे सहयोग का बिल्कुल दुरुपयोग कर रहा है और उसके द्वारा निर्दोषों को पीड़ा पहुँच रही है वहाँ ऐसा असहयोग उचित और आवश्यक है।

सविनय-भङ्ग दो तरह का हो सकता है। किसी खास अन्याय-युक्त हुक्म या कानून का अथवा उसी हुक्म या कानून को रद कराने के लिये और असहयोग के ही विशेष अंग के रूप में बिना अन्याय, अधर्म किये निर्दोष या तटस्थ लोगों को अनुचित असुविधा किये बगैर: तोड़े जा सकने वाले तमाम कानूनों का। परन्तु चोरी न करने और अधर्म रोकने वाले कानूनों का नहीं। सविनय-भङ्ग में सरकारी प्रतिबन्धों या हुक्मों का उलंघन और करबन्दी भी शामिल है।

सत्याग्रही अपने सविनय-भङ्ग की पूरी-पूरी सजा भोगने को तैयार रहता है। वह बिना आनाकानी के गिरफ्तार हो जाता है और न अदालत की कार्यवाही में भाग लेता है, न अपनी सफाई पेश करता है। यदि उस पर सत्याग्रह-सिद्धान्त के विरुद्ध झूठा इल्जाम लगाया गया हो तो दूसरी बात है। सत्याग्रही को जुर्माना न देना चाहिए। उसके फलस्वरूप माल-असबाब को जब्त हो जाने दें। जेल में ऊँचा क्लास पाने के लिए भी उसे यत्न नहीं करना चाहिए। जो क्लास उसे दे दिया जाय उसकी सुविधा वह पा सकता है।

जेल में सभ्यता और विनय को कभी न छोड़े। जहाँ महत्व के सिद्धान्त का या स्वाभिमान का प्रश्न हो वहीं नियम के खिलाफ जाने की प्रवृत्ति रक्खे। तिकड़म न करे। जेल में जो काम दिया जाय उसे करने का प्रयत्न करे। गाली, मार-पीट आदि सहन न करे। न गन्दा, कच्चा, सड़ा, जीवजन्तु मिला भोजन खावे। स्वराज्य की लड़ाई के मैदान में जेल तन्त्र के

सुधार को लड़ाई का स्वतन्त्र विषय बनाना वाँछनीय नहीं है। हाँ, असभ्यता, अमानुषिक व्यवहार अथवा नियम के विरुद्ध लड़ाई लड़ी जा सकती है।

सत्याग्रह में शरीर-बल का उपयोग निषिद्ध है। प्रेम-अहिंसा का बल, आत्म-बल ही उसमें निहित है यहाँ तक कि लड़ाई के सिलसिले में प्रतिपक्षी, अंग्रेज या राज्याधिकारी पर कोई हमला करे तो सत्याग्रही अपनी जान को जोखिम में डालकर भी उसकी रक्षा करेगा।

अपनी टुकड़ी के नायक के तमाम आदेशों का पालन सत्याग्रही खुशी से करेगा फिर चाहे वे आदेश पसन्द हों या न हों। आदेश अपमानजनक हो, द्वेष या मूर्खतापूर्ण मालूम होता हो तो भी पहले उसका पालन करके फिर जो ऊपरी अफ़सर हो उससे शिकायत करना चाहिए। दल में शामिल होने से पहिले शामिल होने की शर्तों पर विचार करने का अधिकार सत्याग्रही को है। एक बार शामिल होने के बाद फिर उसके कड़ुवे मीठे नियम और उनका पालन उसके लिए धर्म-रूप हो जाता है। दल के समस्त-व्यवहार में यदि अनीति मालूम हो तो सत्याग्रही उससे अलग हो सकता है परन्तु उसमें रहकर नियम-भङ्ग करने का अधिकार उसे नहीं है।

सत्याग्रही की ईश्वर में सजीव-श्रद्धा होनी चाहिए। सत्य और अहिंसा को अपना धर्म मानाना चाहिए। उसे चरित्रवान होना चाहिए और अपने लक्ष्य के लिए जानो-माल कुरबान करने को तैयार रहना चाहिए। भारतीय सत्याग्रहियों को आदतन खादी-

धारी और कातनेवाला होना चाहिए। सत्याग्रही के लिए निर्व्यसनी, अनुशासनशील और साधारणतः जेल के नियमों का मानने वाला होना चाहिए।

गांधी जी का राज्य-सम्बन्धी आदर्श राम-राज्य यानी धर्म, न्याय और प्रेम का राज्य है। उसमें आर्थिक विषमता और लोगों के भूखों मरने की गुञ्जाइश न होगी। पशु-बल तो उसका आधार हो ही नहीं सकता। बहुमत अल्पमत को दबाता न होगा। बहुसंख्यक जाति का फ़र्ज़ होगा कि वह अल्पसंख्यक जातियों के हितों की रक्षा करे।

राम-राज्य करोड़ों का और करोड़ों के सुख लिए होगा। उसके विधान में मुख्य अधिकारी राजा हो या अध्यक्ष या और कुछ, प्रजा का सच्चा सेवक होने के कारण ही उस पद पर होगा। राजा इत्यादि कहलाते हुए भी सदा फ़कीर की तरह रहेगा तथा प्रजा के कल्याण के लिए सदैव प्रयत्न करता रहेगा।

राम-राज्य में राजा का नियन्त्रण कमसे कम होगा। बहुत सी बातें उसमें प्रजा स्वयं कर लिया करेगी।

राम-राज्य में खेती का धन्धा तरक्की पर होगा और दूसरे तमाम धन्धे उसके सहारे कायम रहेंगे। अन्न और वस्त्र के विषय में लोग स्वाधीन होंगे। गाय-बैल की हालत भी अच्छी होगी जिससे आदर्श गो-रक्षा की व्यवस्था हो सकेगी।

राम-राज्य में सब धर्म, सब वर्ण और सब वर्ग समान भाव से मिलजुलकर रहेंगे और धार्मिक झगड़े या क्षुद्र-स्पर्धा अथवा विरोधी स्वार्थ जैसी कोई वस्तु न होगी। राम-राज्य में स्त्रियों का

दरजा पुरुषों के बराबर होगा। सम्पत्ति या आलस्य के कारण कोई निरुद्यमी न रहेगा। न कोई मेहनत करते हुए भी भूखों मरेगा। सबको काम मिलेगा। उसमें न आन्तरिक कलह होगा न विदेशों के साथ लड़ाई। दूसरे राष्ट्रों के साथ मित्र-भाव होगा। इसलिए सैनिक-खर्च कम से कम होगा। राम-राज्य में साक्षरता ही नहीं मुक्तिकरी शिक्षा सबको प्राप्त होगी।

राम-राज्य का ही दूसरा नाम—अहिंसक-स्वराज्य या जनता का स्वराज्य है। जनता का यह स्वराज्य प्रत्येक व्यक्ति जब नागरिक की हैसियत से अपने धर्म का पालन करता है तभी निर्माण होता है।

गांधी जी विधान-सम्बन्धी सुधारों को उतना महत्व नहीं देते जितना कि तन्त्र-सुधार को। जनता की दृष्टि से वे शासन-सम्बन्धी सुधारों को बाह्य और ऊपरी मानते हैं और इस बात को बुनियादी कि प्रजा के प्रति सत्ताधीशों की मनोवृत्ति में सुधार हो। उनका कहना है कि शासन-विधान का बाह्य-स्वरूप चाहे कैसा ही हो, यदि अधिकारी धर्म-बुद्धि और प्रजा-सेवक हों और प्रजा पुरुषार्थी तो सरकार की तरफ से अन्याय, जुल्म आदि अधिक समय तक नहीं रह सकते।

राष्ट्रीय एकता को अनिवार्य समझते हुये भी गांधी जी चाहते हैं कि वह एकता प्रत्येक जाति की अपनी-अपनी विशेषता को कायम रखते हुये सिद्ध की जाय। बड़ी जातियों को चाहिए कि वे छोटी जातियों को इस बात का विश्वास दिला दें कि बड़ी जातियों का रुख इस प्रकार का होगा कि छोटी जातियों को

धर्म, भाषा, साहित्य, जाति-नियम, रस्म-रिवाज, शिक्षा, अर्थ-प्राप्ति के अवसर आदि विषयों में हानि न सहनी पड़े ? बशर्ते कि ये बातें सार्वजनिक हित के विरुद्ध न हों। जातियों को आपसी झगड़ों में सरकार या कानून की सहायता न लेनी चाहिए। सरकारी नियुक्तियों में जात-पाँत-धर्म इत्यादि किसी बात का विचार न करके काम की योग्यता का ही लिहाज होना चाहिए। ये सिद्धान्त वर्णों के लिए भी लागू होते हैं।

गांधी जी की सम्मति है कि यह निश्चय करने का अधिकार कि ब्रिटिशराज्य के साथ भारत का सम्बन्ध किस प्रकार का रहे भारतीय जनता को है। जबतक यह अधिकार न हो तबतक यह नहीं कह सकते कि 'स्वराज्य' मिल जाय। हाँ, ऐसे अधिकार के साथ भारतवर्ष ब्रिटिश-साम्राज्य के साथ सम्बन्ध रक्खे तो उसमें कोई हानि नहीं हैं। भारत के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी शक्ति और अपनी संस्कृति को पहचान कर उसके प्रति वफ़ादार रहे।

ब्रिटिश-साम्राज्य सचमुच ही एक आसुरी-तन्त्र है। उसका नाश ही होने देना उचित है। परन्तु ब्रिटिश-साम्राज्य और ब्रिटिश-जाति एक ही वस्तु नहीं हैं। भारत स्थित अंग्रेज स्वराज्य में दूसरी छोटी जातियों की तरह रह सकते हैं। परदेशी होने पर भी वे भारत में अनुकूल शर्तों पर स्वराज्य में नौकरी कर सकेंगे।

देशी राज्यों की प्रजा दुहरा गुलामी है। इसलिए उसके उद्धार का उपाय यही है कि ब्रिटिश-भारत पहले स्वराज्य प्राप्त

करले। ब्रिटिश-भारत की प्रजा जबतक स्वयं स्वतन्त्र न होगी तबतक उसमें इतना सामर्थ्य नहीं कि वह देशी राज्यों की प्रजा के संकट को दूर कर सके। ब्रिटिश भारत की प्रजा के अपने पुरुषार्थ से स्वतन्त्र होते ही बहुत से देशी राजाओं की आँखें खुल जायँगी कि वे खुद ही अपने राज्यों में समुचित सुधार कर देंगे। जो उस समय भी जड़ता का परिचय देंगे वे रहने नहीं पावेंगे। गांधीजी सत्याग्रह को अमोघ अस्त्र मानते हैं। उनका कहना है कि जो प्रजा, जो राष्ट्र अपने मत के पीछे मर-मिटने को तैयार है उसके सामने बड़े-बड़े मुकुट-धारियों की भी झुके बिना गति नहीं है।

गांधीजी स्वराज्य में कुछ काल तक देश की रक्षा के लिए थोड़े से सैनिक और सैनिक-साधनों की आवश्यकता अनुभव करते हैं। इस काल तक उचित मर्यादा और बन्धन के अन्दर हर योग्य आदमी को हथियार रखने की छुट्टी रहेगी।

स्वराज्य में ऐसे स्वयं-सेवकों के अनेक मण्डल होंगे जिनके जीवन का मुख्य कार्य प्रजा की सेवा करना और उनके लिए अपना बलिदान कर देना। ये मण्डल केवल लड़ाई लड़ने वाले ही न होंगे बल्कि ऐसे होंगे जो प्रजा को शिक्षा देंगे, उसमें व्यवस्था, व्यवहार और सुख-सुविधा को कायम रखेंगे। देश की आपत्ति के समय पहला वार वे ही सहन करेंगे।

'गांधीजी का अर्थ-शास्त्र'

गांधीजी की राय है कि पश्चिम के अर्थ-शास्त्र की बुनियाद गलत दृष्टि-बिन्दुओं पर डाली गई है, जिससे वह अनर्थ-शास्त्र हो गया है। उसने (१) भोग-विलास की विविधता और विशेषता

की संस्कृति का प्राण माना है। (२) उसके सिद्धान्तों का निर्माण यूरुप के छोटे, ठण्डे और खेती के लिए कम (उपजाऊ) अनुकूल देशों में घनी वस्ती वाले परन्तु मुट्ठी भर लोगों की अथवा बहुत थोड़ी आबादी वाले उपजाऊ वड़े खण्डों की परि-स्थिति के अनुभव से बना हुआ है। (३) वैयक्तिक, वर्गीय या राष्ट्रीय उनका आधार, संकुचित हित है और उसमें (४) कीमती धातुओं को हद से अधिक प्राधान्य दिया गया है। (५) वह अर्थ और नीति-धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं मानता। अतः वह जीवन के अर्थ से अधिक महत्वपूर्ण विषयों को भी अर्थ से गौण मानता है। इन कारणों से पच्छिमी अर्थ-शास्त्र, यंत्रों का, शहरों का तथा खेतो के मुकाविले उद्योगों का अन्ध-पूजक वन गया है। उसने समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों और देशों में समन्वय की जगह संघर्ष उत्पन्न किया है। वह इस अर्थ-शास्त्र की दृष्टि से पिछड़े हुए देशों की आर्थिक लूट करता है, उनको व्यसनों में फंसा कर तथा उनका नैतिक अधःपतन करके अपनी समृद्धि खोजता है। इस अर्थ-शास्त्र को मानने वाले राष्ट्रों का जीवन पशु-वल पर ही टिका हुआ है। गांधीजी इस अर्थ-शास्त्र के सिद्धान्तों को धार्मिक या भूत प्रेतादि के नाम से प्रचलित वहमों से अधिक महत्व नहीं देते।

भारत की परिस्थितियाँ विलकुल भिन्न हैं। वह एक विशाल देश है। उसकी आव-हवा विविध प्रकार की है। उसकी जमीन तरह-तरह की है और कुछ जमीन कम उपजाऊ हो गई है। उस की आवादी जो कुल मनुष्य जाति का पाँचवाँ हिस्सा है, लाखों

छोटे-छोटे गाँवों में बँटी हुई है। उसमें अनेक प्रकार की धर्म, संस्कृति, स्वभाव और रस्म-रिवाजों की विविधता है।

गांधीजी की सम्मति है कि भारतीय अर्थ-शास्त्र के मुद्दों का विचार (१) गांवों को दृष्टि में रखकर करना चाहिये। (२) उसमें खेती और उद्योग का पारस्परिक सम्बन्ध इतना निकट का होना चाहिये कि दोनों साधारणतः एक ही झोंपड़ी में रह सकें। (३) भारतीय अर्थ-शास्त्र का विचार इस तरह करना चाहिये जिससे विविध धर्मों, संस्कारों और स्वभाव रखने वाले लोगों में अनुचित हित-विरोध और कलह न पैदा हो। (४) भारतीय अर्थ-शास्त्र कदम-कदम पर नीति-धर्म को हमारे सामने रखकर सर्वोत्तम सिद्ध करने का प्रयत्न करेगा।

वर्तमान आर्थिक योजनाओं के फलस्वरूप गांवों का कच्चा माल शहरों में होकर विदेशों को चला जाता है और वहाँ से बना पक्का माल गाँवों में कई गुना मुनाफे से बेचा जाता है। परिणाम—गाँवों की सम्पत्ति का और उनके उद्योग-धन्धों का विनाश तथा गाँवों में अनावश्यक, फैशनेबिल खर्चीली चीजों का तथा आरोग्य और स्वच्छता की दृष्टि से हानिकर चीजों का प्रचार। मसलन दतौन की जगह दन्त-मञ्जन, टुथ ब्रुश, पेस्ट, गुड़ और देहाती खाँड़ की जगह शकर, सन-मूँज की रस्सियों की जगह तार, गाँवों की बनी बाँस-घास के सूपों, टोकनियों के बजाय, लोहे की चादर के बने सूप, डब्बे आदि, देहात के कागज की जगह मशीन के कागज, घरेलू ताजे काढ़े आदि के बदले तैयार दवाइयों की बोतलें इत्यादि। गांधीजी इस प्रवाह को बदल

कर ग्राम्य-अर्थ-शास्त्र द्वारा यह चाहते हैं कि देहात की सम्पत्ति देहात में ही रहे और देहाती स्वावलम्बी बनें और शहरातियों की आवश्यकता का बहुत-सा माल देहात में बनने लगे।

गांधीजी की राय में जन-साधारण का बड़ा भाग न तो धन को ठोकर ही मारता है और न उसकी अपार तृष्णा ही रखता है। लोग साधारणतः इतना जरूर चाहते हैं कि वर्ष के अन्त में बीमारी, मौतों, शादी-ब्याह, बुढ़ापे, तीज-त्यौहार, दान-धर्मादि के लिए दो पैसे उनके पास अवश्य बच रहें।

गांधीजी की सम्मति में समाज की व्यवस्था और रचना ऐसी होनी चाहिए जिसमें प्रजा को आवश्यक सुख-सुविधा और धनेच्छा को धक्का पहुँचाये बिना उन्हें पुरुषार्थ करने का उचित अवसर मिले और मिले उनकी महत्वाकांक्षा को पोषण, परन्तु इस तरह कि उससे अन्त में समाज का लाभ ही हो। वे उद्योग-धन्धों तथा समाज-सेवा के कार्यों के लिए आवश्यक साहस और जोखिम को देखते हुए, उनके प्रयोगों के लिए राज्य-संस्थाओं की अपेक्षा वैयक्तिक या खानगी संस्कृतियों के प्रयत्नों को अधिक अनुकूल और सुविधाजनक मानते हैं। इसलिए समाज-रचना भी इसके अनुकूल चाहते हैं।

वे व्यापार की और वैयक्तिक व्यापार की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं। परन्तु उससे होने वाले मुनाफे को मजूरों के हित में या दूसरे उपयोगी उद्योगों के विकास में या सार्वजनिक हित के बड़े कार्यों में लगाने पर जोर देते हैं और चाहते हैं कि ऐसे धन का मालिक अपने को उसका ट्रस्टी-रक्षक-मात्र समझे।

व्यापार-धन्धे में झूठ बोलना गांधीजी अधर्ममय समझते हैं। जौहरों और व्यापारियों की भांति-भांति की बेईमानियों को वे ज्वलन्त-पाप और हिंसा का नाम देते हैं और गृह तथा कौटुम्बिक कार्यों के लिए दिये गये उधार रुपये पर व्याज लेना गैर-क़ानूनी समझते हैं।

गांधीजी की राय में उद्योग का ध्येय यह नहीं है कि व्यापार बढ़ाने के लिए नई-नई जरूरतें खड़ी की जायँ, बल्कि यह है कि मौजूदा हाजतों और जरूरतों के लिए अच्छे से अच्छा प्रबन्ध किया जाय। व्यापार का भी प्रयोजन इतना ही है। गांधीजी यह मानते हैं कि फिर भी यह सम्भव है कि कितनी ही नई आवश्यकतायें पैदा होती रहें। लेकिन उनका ख्याल है कि यदि उपर्युक्त ध्येय पर से ध्यान न हटाया जाय तो वाणिज्य पिछड़ी हुई जातियों की हाजतें बढ़ाने के लालच में न पड़ेगा और उन्हें चूसने की नीति मंजूर न करेगा और ऐसा होने से मजदूर और मालिक भी अन्योन्याश्रित होकर रहेंगे। इस ध्येय के अभाव में पूँजीपति व्यक्ति के बदले जड़तन्त्र मालिक बन बैठेगा। एक राष्ट्र मालिक और दूसरा मजदूर बनेगा और इन बातों से मनुष्य का सुख नहीं बढ़ेगा।

मजदूरों के सम्बन्ध में भी गांधीजी के विचार मौलिक हैं उनका कहना है कि यह बात निश्चित नहीं है कि यन्त्रों के सुधार द्वारा, दो चार छत्र के श्रम से जीवन की आवश्यकतायें पूर्ण कर लेने तथा पूंजीपतियों के नाश से, यदि वह सम्भव हो, मानव-जाति को सुख ही मिले। गांधीजी काम को बेगार और शारीरिक

श्रम को सांस्कृतिक उन्नति का विरोधी नहीं मानते। उनकी राय में उद्योग-धन्धों की रचना इस तरह करनी चाहिये कि जिससे मजदूरों को अपना काम करने में ही आनन्द आवे। काम ही उनके लिए शौक तथा आमोद-प्रमोद हो जाय और अपने काम में ही वे अपनी आध्यात्मिक विकास कर सकें। वे श्रम को कुद-रत का कोप नहीं बल्कि अनुग्रह मानते हैं और इसलिए चाहते हैं कि मनुष्यों की श्रम करने की सामर्थ्य घटने के बजाय बढ़े। वे चाहते हैं कि मालिक मजदूरों के व्यवस्थापक बनकर उन्हें केवल शक्ति-भर काम दें तथा उनके लिए सुख-सुविधा करके उन्हें पूरा मिहनताना दें तथा मजदूर मालिक के काम को अपना समझ कर मन लगा कर मिहनत करें क्योंकि इसमें दोनों का हित बढ़ता है।

गांधीजी के स्वाश्रम का अर्थ न तो श्रम-विभाग का विरोध ही है और न दूसरे देशों के साथ औद्योगिक सम्बन्ध का अभाव ही। यह अवश्य है कि अपनी जितनी जरूरतें और जितने काम मनुष्य सहज ही खुद पूरा कर सकता है और जिसके लिए कुद-रती अनुकूलतायें भी हों उनमें स्वाश्रमी रहा जाय। मसलन, अन्न, वस्त्र के मामले में, डबल रोटी या तेलों के बारे में भारत स्वाश्रमी बन जाय तो वह दूसरे देशों में औद्योगिक सम्बन्ध रखने का दोषी नहीं हो सकता।

आर्थिक और राजनैतिक दृष्टि से गांधीजी के स्वदेशी आन्दो-लन के मानी हैं कि प्रत्येक देश में जो कच्चा माल जहाँ पैदा हो उससे पक्का माल तैयार करने के कारखाने भी वहीं होने

चाहिएँ। इङ्गलैण्ड की 'फ्री ट्रेड' को गांधीजी वास्तव में मुक्त व्यापार नहीं मानते क्योंकि अपने धन्धों की रक्षा और दूसरे देशों के धन्धों के विनाश के लिए जकात का ही नहीं सैनिक-बल, राजनैतिक सत्ता और कुटिल नीति का भी प्रयोग करता है। इस नीति को वे अधर्म और अन्यायपूर्ण मानते हैं। आर्थिक दृष्टि से वे स्वदेशी और बहिष्कार में कोई भेद नहीं मानते। उनका कहना है कि देश की बनी जिस चीज़ पर देश के करोड़ों लोगों का जीवन निर्भर है उस विदेशी चीज़ का बहिष्कार करना ही पड़ेगा।

भारतीय अर्थ-शास्त्र की दृष्टि से यान्त्रिक साधनों तथा उनमें आवश्यक सुधारों के दो भाग करते हैं, बदला, मुरव्वत। इस दृष्टि को प्रधान मान कर कि यन्त्र और उनमें सुधार ऐसे हों कि जिससे श्रम-कर्ता मनुष्य या पशु को कुछ कम श्रम हो और थोड़ा समय बच जाय। जैसे गिर्री, चक्की, चरखा, साइकिल, सीने की कल, करघा, गाड़ी इत्यादि में घर्षणादि दोष कम करने के लिए किये गये सुधार यथा—बालबियरिङ्ग, पक्की सड़कें, रेल की पटड़ी इत्यादि। दूसरे ऐसे यन्त्र जो श्रमकर्त्ता मनुष्य या पशु का स्थान ग्रहण कर ले या मजदूरों को केवल जीवित यन्त्र के तौर पर इस्तैमाल करने के लिए बनाये जायँ, जैसे पीसने, कूटने, पेलने की कलें, सूत और कपड़ों की मिल, मोटर, रेलगाड़ी इत्यादि ट्रेक्टर, भाप या बिजली से चलने वाले पानी के पम्प, सूक्ष्म श्रम-विभाग के फलस्वरूप बने यन्त्र इत्यादि। इनमें से पहले को वे सामान्यतः इष्ट मानते हैं। दूसरों का उपयोग करने में वे विवेक,

सावधानी और सरकार का वैसा ही अंकुश चाहते हैं जैसा कि शस्त्रास्त्र, गोला-बारूद बनाने तथा इस्तैमाल करने पर होता है। गांधी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सर्वथा अभाव कदापि नहीं चाहते।

गांधीजी की अर्थ-नीति और राजनीति के मुख्याधार भारत के गांव हैं। वे चाहते हैं कि जमीनपर कर का पहला बोझ न पड़े। बल्कि इसके विपरीत खेती की आबादी राज्य पर पहला बोझ होना चाहिये और तमाम कर इस तरह से लगाये और वसूल किये जाने चाहिये जिसमें खेती को हानि न पहुँचे। इस बारे में समस्त अर्थशास्त्री एकमत हैं कि खेतिहरों का साल में काफी समय आधा नहीं तो आधे के करीब समय बेकार जाता है। इसलिये हिन्दुस्तान में खेती के ही साथ कोई न कोई सहयोगी धन्धा अवश्य होना चाहिए।

इन सहयोगी धन्धों के लिए गांधीजी ने निम्नलिखित जो अनुकूलतायें आवश्यक बताई हैं, साधारणतः, उनके बारे में भी हिन्दुस्तान में सब अर्थशास्त्राचार्य सहमत हैं। पहली अनुकूलता यह है कि सहयोगी धन्धे खेती के अनुकूल होने चाहिए। (२) जिससे कि खेती के लिए मजदूरी की जरूरत पड़ते ही, वह बिना नुकसान के बन्द किया जा सके। (३) सहयोगी धन्धा नौकरी के तौर पर नहीं, स्वतन्त्र रूप से मजूरी पर चलने वाला होना चाहिए। (४) उसके लिए इतनी पूंजी की आवश्यकता नहीं कि जो इस गरीब देश के गरीबों की सामर्थ्य के बाहर हो। (५) वह खेती के नजदीक घर या गाँव में ही किया जा सके। (६) जिसका माल आसानी से खप सके, यानी वह सार्वजनिक आव-

श्यकता की वस्तु तैयार करने वाला हो। (७) उसका तन्त्र अपेक्षाकृत तेजी से, आसानी से और थोड़े खर्च में खड़ा हो सके, (८) अपढ़, अल्पबुद्धि और कमजोर तथा छोटे-बड़े लोग उसे कर सकें। (९) वह ऐसा न हो जो मनुष्यों को रसहीन तथा आनन्द रहित बना दे, उन्हें थका दे तथा उनका जी उबा दे।

इनमें से अधिकों की अनुकूलतायें चराने और गो-पालन में विशेष रूप से पाई जाती हैं। और इन दोनों में चराने का महत्व अधिक है, क्योंकि खेती के मजूर भी कर सकते हैं और वह गो-पालन के सहयोगी-धन्धे के साथ भी हो सकता है।

धान कूटने के, आटा पीसने के, रोटी बिस्कुट बनाने के, गुड़-शक्कर बनाने के, तेल पेरने के, बुनने के, चमार तथा मोची वगैरः के धन्धे देहात में ही चलने चाहिएँ। ये और ऐसे धन्धे सहयोगी उद्योगों के अच्छे उदाहरण हैं। इनके प्रासङ्गिक लाभ भी किसानों को ही मिलते हैं। अनेक विदेशी चीजों के मुकाबिले में स्वदेशी मिलों की चीजें ही इस्तैमाल की जानी चाहिए, परन्तु स्वदेशी आन्दोलन की असली जरूरत तो ग्राम-उद्योगों को रक्षण देने की है—जैसे, खादी, गुड़, खाँड़, हथकुटे चावल, देहाती कागज, घानी का तेल, देहाती-मसाले, अण्डी, दतौन, देहाती झाड़ू, चटाई, टोकरियाँ, रस्सी, जाजम, चमड़े की चीजें आदि सैकड़ों देहाती धन्धे जिनके अभाव में ग्रामवासी कंगाल अहदी और परावलम्बी हो रहे हैं। इस काम में देश वालों की एक बड़ी संख्या लग सकती है। जितने स्वदेशी-संघ काम कर रहे हैं वे

काफी नहीं हैं। अगणित उद्योगों के विषय में सही जानकारी प्राप्त करना, खोज करना, अनेक प्रकार से कारीगरों के हित में दिलचस्पी लेना जरूरी है। जिससे बेकारों के वास्ते कोई ईमानदारी और इज्जत का काम करके गुजारा करने का जरिया मिल जाय।

खेती और वस्त्र के धन्धे के अलावा समाज को धातु, कोयला, मिट्टी का तेल इत्यादि की खानों तथा खनिज पदार्थों एवं नमक, मछली इत्यादि सामुद्रिक और लकड़ी, लाख, रबर, वनस्पति इत्यादि जंगली पदार्थों से सम्बन्ध रखने वाले धन्धों की भी जरूरत है। इनमें मछली पकड़ने और नमक बनाने के धन्धे तो खेती और चरखे की कोटि के हैं।

बाकी धन्धों की पैदावार की कीमत पर, बनावट पर, मुनाफे पर और मजदूरों की सुख-सुविधा पर राज्य का अंकुश होना चाहिये। बड़े-बड़े कारखानों से गृह-उद्योग का नाश न हो, इस बात का भी ध्यान राज्य को रखना चाहिये।

हानिकारक उद्योगों पर राज्य का कड़ा अंकुश होना चाहिए और उनकी उतनी ही पैदावार और खपत होनी चाहिए, जितनी कि चिकित्सादि की दृष्टि से आवश्यक हो।

पेशेवर लोगों, शिक्षक, वकील, अफसर, अहलकारादि के वेतन की मर्यादा जन-संख्या और देश की सम्पत्ति का ध्यान रखकर नियत की जानी चाहिए। जो धन कमाना चाहते हैं उन्हें सार्वजनिक सेवा (Public service) का काम छोड़कर उद्योग-धन्धों की ओर जाना चाहिए।

गांधीजी गो-शालाओं में आमूल सुधार और उनमें मरे ढेरों के हाड़-मांस के या चमडे के उद्योग का विभाग भी चाहते हैं। भारतवर्ष की आर्थिक-दृष्टि से वे गो-वध की मनाई के पक्ष में हैं। लेकिन गो-वध रोकने के लिए मुसलमान-वध को अधर्म समझते हैं।

गांधीजी चरखे पर जितना जोर देते हैं वह जग-जाहिर है। उनके इस कथन से हिन्दुस्तान के समस्त अर्थ-शास्त्रज्ञ सहमत होंगे कि सहयोगी उद्योग के रूप में चरखे में जो गुण हैं वे दूसरे किसी भी उद्योग में नहीं हैं।

उनका चर्खा न तो मिलों की स्पर्द्धा ही करता है, न वह मिलों का स्थान ही लेना चाहता है। न वह किसी भी मुख्य धन्धे की जगह अथवा उसके बजाय ही बताया जाता है। यह कोई नहीं कहता कि चर्खे से ही पेट भरो और दूसरे सब धन्धे छोड़कर चर्खा ही चलाते रहो। चर्खे द्वारा किसी को धनवान होने की आशा न करनी चाहिये। चर्खे की जरूरत किसानों की बेकारी को घटाने और मिटाने के लिये है। चर्खा करोड़ों का गृह-उद्योग तथा उनके जीवन का आधार है। मिल से उसकी प्रतिस्पर्द्धा नहीं लेकिन मिलों में खादी बनाने की मनाई होनी चाहिये। राष्ट्रीय अर्थ-शास्त्र की सम्पूर्ण दृष्टि से खादी की बनिस्बत मिल का कपड़ा मंहगा पड़ता है। मिलों की हानिकारक प्रतिस्पर्द्धा को रोकने का अहिंसात्मक उपाय है। विदेशी वस्त्रों व चर्खे की प्रतिस्पर्द्धा करने वाले देशी मिलों का बहिष्कार। खादी पहिनने की प्रतिज्ञा, यज्ञार्थ कताई इत्यादि।

हाथ-करघा और चरखा दोनों जुड़वाँ भाई-बहिन हैं। दोनों एक-दूसरे के बिना नहीं टिक सकते। प्रत्येक घर में एक चर्खा और हरेक छोटे गाँव में एक करघा आने वाले युग के विधान का मन्त्र है। खादी उत्पत्ति-सम्बन्धी-लोढ़ने से लेकर बुनाई तक की—सब क्रियायें गृह-उद्योग द्वारा ही होना उचित है। लोढ़ने-पींजने आदि को चर्खे का आनुषंगिक अङ्ग समझना चाहिये।

किसान अपने ही खेत के कपास से खुद लोढ़, पींज, कात ले और सिर्फ बुनाई के लिये ही पैसा दे तो वह खादी मिल से भी सस्ती पड़ती है। इसे वस्त्र-स्वावलम्बन कहते हैं। जो किसान इसके साथ बुनाई सीखकर बुनने भी लगे तो वह पूरा स्वावलम्बी हो जाय और उसे कपड़ा बहुत सस्ता पड़े। किसान राह-खर्च लगकर आई हुई रुई खरीद कर पूर्वोक्त क्रियायें घर पर करे तो उसका कपड़ा आज मिल के कपड़े से कुछ मँहगा पड़ता है। परन्तु सूत के कस और अङ्क में सुधार होने से यह कसर निकल जायगी।

अपने आर्थिक लाभ की इच्छा न रखकर गरीबों के लाभ के लिये सूत कातने को गान्धी जी यज्ञार्थ कताई कहते हैं। इससे विदेशी कपड़े को लाने के पाप का प्रायश्चित भी होता है। इसलिये पुरुषों को भी देश-हित का ख्याल करके प्रतिदिन सूत कातना चाहिये इससे धनी-गरीब दोनों एक ही श्रम-सूत्र में बँधेंगे।

खादी की उत्पत्ति और बिक्री के संगठन में सैकड़ों उन्न

आकांक्षी युवकों के लिये अपनी बुद्धि, व्यवस्था, शक्ति, व्यापारिक चतुरता और शास्त्रीय ज्ञान को प्रदर्शित करने का व्यापक क्षेत्र खुला हुआ है। इस काम को सुचारू रूप से सम्भव कर दिखाने से राष्ट्र अपनी स्वराज्य-संचालन-शक्ति सिद्ध कर सकता है। खादी-रूपी सूर्य के आस-पास देहात के अनेक उद्योग-गृह माला की तरह बढ़ सकते हैं और उसके द्वारा जबरन निरुद्यमी और आलसी बने लोगों के घर रोज़ी और धन्धे से गूँज उठेंगे। खादी के कार्यकर्ता गाँव-गाँव में स्वराज्य का और उसकी तैयारी के रूप में किये जाने वाले रचनात्मक कार्यक्रम का संदेश पहुँचा रहे हैं जिससे यह काम आज आत्म-शुद्धि के कार्य में बहुत बड़ा सहायक हो रहा है। खादी-शास्त्र में बराबर खोज और प्रयोग की ज़रूरत है। गांधीजी पूरे मिहनताने पर बहुत जोर देते हैं। वे चाहते हैं कि कातनेवालों को भी आठ घण्टे के काम के आठ आने रोज दिये जायं। उनकी राय में आदर्श स्थिति और वर्ण धर्म की परिपूर्णता तो तभी समझी जायगी जब सब धन्धे करने वालों की आमदनी एक सी हो।

स्वच्छता, आरोग्य, रोग और उनकी चिकित्सा पर भी गांधी जी ने हिन्दुस्तान के लाखों गांवों में रहने वाली कोटि-कोटि जनता को परमोपयोगी मौलिक तथा व्यावहारिक बातें बताई हैं। जिन पर चलकर ग़रीब से ग़रीब अपने स्वास्थ की रक्षा तथा वृद्धि कर सकता है।

शिक्षा-राष्ट्रीय शिक्षा के सम्बन्ध में भी गांधी जी के विचार

और उनकी योजनाएं न केवल क्रान्तिकारी ही हैं वल्कि नितान्त व्यावहारिक और अत्यन्त उपयोगी भी।

साहित्य और ललित कलाओं को गांधी जी उनका मानव जीवन और समाज में उच्च स्थान देते हैं परन्तु इस कार्य के साथ वे कल्याण के वाधक न बनाये जाने पावें।

संस्थाओं और लोक-सेवकों के लिए भी गांधी जी ने अपने मौलिक और क्रान्तिकारी आध्यात्मिक दृष्टि-कोण से पथ-प्रदर्शक व्यावहारिक नियम निर्धारित किये हैं।

'नात्सीवाद'

Prof. S.V. Puntanbakar-Hindu University

नात्सी-वाद की मुख्य पहचान यह है कि वह स्वजाति-भक्त तथा व्यक्ति-विरोधी होता है। वह अपनी जाति को सर्वश्रेष्ठ मानव जाति मानता है और मानता है कि इस सर्वश्रेष्ठ जाति का समस्त संसार पर साम्राज्य उनकी विधि-नियत पौत्रिक-सम्पत्ति है। उनका यह विश्वास और यह मनोरथ अत्यन्त प्रचण्ड होता है। शुद्ध सत्य की दृष्टि से वह सही हो या न हो, परन्तु वह अचूक ऐड़, अंकुश, अनुपम -आशा और प्रोत्साहक भावना का काम करता है। वह तर्क से परे है। भविष्य की कल्पना है, योजना नहीं। वह असीम मानव शक्तियों का स्रोत खोल देता है और मनुष्यों को वड़े से वड़े वलिदान के लिये अतुलित वल भर देता है। इस प्रकार की श्रद्धा, पौराणिक रहस्यमयी तथा प्रचारोन्मुख होने के कारण पूर्णतया वुद्धि-विरोधी और भाव-प्रधान होती है। नात्सियों का जातीय दृष्टि-

कोण मनुष्यों और मनुष्य-समूहों की असमानता पर आधारित है। नात्सीवाद में कुशाग्र-बुद्धि नेतृत्व की भावुक भक्त सर्वसाधारण श्रद्धापूर्वक सेवा करते हैं। उनकी राय में राष्ट्रीय राज से बढ़कर और ऊँचा और कोई नहीं। उनका राष्ट्रीयराज राजनैतिक-दल विशेष नहीं होता परन्तु देश की जनता का पर्यायवाची, समस्त-जाति-जाह्नवी का समानार्थी, उनके संकल्पों की प्रतिमूर्ति होता है तथा अपने नेता और नेता-निर्मित पार्टी में प्रस्फुटित होता है। वह अन्तर्राष्ट्रीयता और सार्वजनीकता की उन भावनाओं का विरोधी होता है जो उनकी संसार-साम्राज्य-सम्बन्धी राजनैतिक तथा स्वजातीय भाव-विरोधी घटकर होती हैं। उनका राष्ट्रीय राज "निपट निशंक न सिर पर कोई" वाली उच्चतम इकाईहीन है जो किसी अन्तर्राष्ट्रीय बन्धन से अपने को आबद्ध नहीं मानतो। अपने स्वजातीय राज की शक्ति और उसके हितों को ही वे एक मात्र धर्म-धारण करने वाली शक्ति और पथ-प्रदर्शक प्रदीप मानते हैं। इस सम्बन्ध में, ईश्वर, प्रकृति या राष्ट्रों के बन्धनों को नहीं मानते। नात्सीवाद पौराणिक राज्य-सम्बन्ध पर अवलम्बित है। जातीय भूमि-भागों और जीवन-स्थलों के शारीरिक-सूत्रों से वह सुदृढ़ होता है। उसके स्वजातीय श्रेष्ठताभिमान और अपने संसार-साम्राज्य के सितारे में उनका विश्वास उनके समस्त सदाचारों का स्रोत होता है और अपने सर्वशक्ति सम्पन्न, सम्पूर्ण राष्ट्र-राज के कानूनों को वे व्यक्ति, व्यक्ति-समूह और मानवता से भी उच्च मानते हैं।

शक्ति और सम्पूर्णाधिकार ही नात्सी-वादी दर्शन अथवा

दृष्टि-कोण की गङ्गा-जमुना है। प्राचीन काल में और इस समय क्रमशः निट्शे और लुडविगक्लेगीज शक्ति के तथा इसी तरह क्रमशः हैगल और औथमर स्पैन पूर्णाधिकार अथवा सर्वाधिकार के समर्थक और प्रतिपादक रहे हैं। ओसवाड़, स्पैंगलर, एच, एस चेम्बरलेन, ट्रीशके, वर्नहार्डी, हिटलर और रोसेनबर्ग ने इन सिद्धान्त-द्वन्द्व को परिपुष्ट तथा परिवर्द्धित किया है।

नात्सियों का विश्वास है कि समस्त मानवीय ऐतिहासिक आन्दोलन जाति और भूमि या रक्त तथा खेत से सम्बन्धित हैं। समाज, राज और जाति को वे उनके सामाजिक मूल्यों अथवा महत्वों में न्यूनाधिक एक ही धारणा मानते हैं। उनका राज, युद्ध, शक्ति तथा सैन्य-राज्य है जहां अधिकार और आज्ञा देने का काम उच्चाधिकारियों का और उन आज्ञाओं को आत्म समर्पणपूर्वक पालन करना शेष सब का काम होता है। वे संसार-शक्ति तथा जीवन को आवश्यक प्रदेश के लिये आक्रमण, साम्राज्य-विस्तार और प्रभुत्व के सिद्धान्तों में विश्वास करते हैं। उनके प्रोफेसर कार्ल हाउशोकरादि विद्वान, जाति के विकास और दिग्विजयरथ से भूगोल के सम्बन्ध का अध्ययन करते हैं तथा वे यन्त्र, उपाय और साधन बताते हैं जिनमें भौगोलिक कारणों और यान्त्रिक साधनों की सहायता से संसार पर अपना साम्राज्य स्थापित किया जा सके।

लुडविगक्लेगीज का शक्ति अथवा स्वजाति सम्बन्धी सिद्धान्त रक्त और रज का सिद्धान्त है। उसका विश्वास है कि समस्त जाति की आत्मा का एक (Corporate) समाहित शरीर होता है जिसके

भीतर समूची जाति की शक्ति मूर्त्तिमती होती है। इस सिद्धान्तानुसार मानव व्यक्ति में बुद्धि-विवेक के लिये उतना स्थान नहीं रहता, उसके समस्त विचार और निर्णय रक्त रज जन्य मनोधर्मों से प्रेरित होते हैं। मानव-कार्य का स्रोत वैयक्तिक चेतना में नहीं, जाति के रक्त-रज में होता है। इस चेतना को वे उतनी आध्यात्मिक नहीं जितनी भौतिक मानते हैं। उसमें आत्मा अथवा अहंभाव नहीं होता। समाहित जात्यात्मा का पालन-पोषण रक्त और रज से होता है। अतः उसके जीवन की समस्त भूल, भाव और प्रणालियाँ जीव-केन्द्रित होती हैं। वे प्रयोजनवादी अन-नैतिक, सहज प्रेरित और बुद्धि स्वतन्त्र होती है। लुडविग क्लेगीज की इस कल्पना में निट्शे को श्रेष्ठ पुरुष अथवा मानव से परे का मानव की प्रचण्ड मनोवृत्ति पशु (Blonde beast) की मनोवृत्ति होती है। उसके लिए मनुष्य पशु-मात्र है। उसकी आत्मा आध्यात्मिक नहीं प्राणमयी, देह-सम्भूत तथा शरीर-सङ्गिनी होती है। मानव-इकाई देह-आत्मा का साथ भर है। उसके विचारानुसार समाज में वैयक्तिक चेतना के लिए कोई स्थान नहीं, जाति और भूमि की समाहित प्राण-शक्ति ही सब कुछ है।

वायना के प्रोफेसर औथमरस्पैन ने १९१५ में नात्सीवाद के सर्वाधिकार सिद्धान्त को और भी विकसित किया। वह उदारवाद, लोकतन्त्र और समाज-वाद का प्रतिपत्ती तथा मानवीय समानता और व्यक्ति-वाद के सिद्धान्तों का कट्टर विरोधी। वह वैयक्तिक स्वतन्त्रता को सही, सत्य तथा वास्तविक नहीं मानता। उसकी राय में व्यक्ति कभी स्वयं-पर्याप्त और स्वयं-स्थित नहीं हो

सकता। स्वतन्त्र व्यक्ति संभव नहीं। व्यक्ति स्वातन्त्र्य पर अव-लम्बित समाज यथार्थ समाज नहीं होता। समाज स्त्री-पुरुषों का वैयक्तिक पारस्परिक सम्बन्ध मात्र नहीं है। समाज में अहंभाव-प्रधान प्राणी के लिये जगह नहीं। समाज़ के अस्तित्व और उस के कार्य से व्यक्तियों के अहं-भाव का कोई सम्बन्ध नहीं होता। व्यक्ति वास्तव में समाज की इकाई नहीं, वह केवल उसका प्रत्यङ्ग मात्र है। स्त्री-पुरुष समाज की इकाई नहीं होते। समाज स्वयं सम्पूर्ण (Totality) है। राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, ललित-कलाएँ और धर्मादि क्रियायें उसकी इकाई हैं। व्यक्तियों का स्वयं अपने से आपस में कोई सम्बन्ध नहीं, उनमें परस्पर जितना भी कुछ सम्बन्ध है सब उस साकल्य-क्षेत्र-समाज के माध्यम में है। उनका पारस्परिक सम्बन्ध उत्पादनादि क्रियाओं के द्वारा उन्हीं के कारण होता है। कोई भी चीज़ जब तक समाज के लिए सार्थक अथवा सोद्देश न हो यानी जबतक वह जाती-भाव-हीन न हो तब तक पुरुष नहीं हो सकती। इस प्रकार समाज अप्रत्यक्ष इकाइयों या क्रियाओं अथवा व्यापारों की विशाल मशीन मात्र है, जीवन के आदर्श और उसकी पद्धतियाँ प्रणालियाँ स्वार्थ-केन्द्रित नहीं, शक्ति और साकल्य केन्द्रित हैं। राज, कानून, रिवाज, परिवार, सामा-जिक समूह, संसर्ग और क्रिया-व्यापार, सब उद्देश ध्येय-पुरुष हैं, व्यक्ति ऐसा पुरुष नहीं। स्पैन की सम्मति में साकल्य की दृष्टि से समाज सर्वोपरि है। उसमें स्वतन्त्रता की सम्भावना हो ही नहीं सकती। मनुष्यों का संस्कार व्यक्तियों का संसार नहीं है। वह व्यक्ति तथा परिवर्तन-हीन उनसे परे है। सम्पूर्ण अपने अंश

सदैव बड़ा होता है। मनुष्य से पहले समाज का स्थान है! व्यक्ति समाज में लुप्त हो जाता है समाज की यह सम्पूर्णता अथवा एकछत्रता रहस्यवादी तथा आध्यात्मिक धारणा हैं। स्पैन के मतानुसार मनुष्य की वैयक्तिक स्थिति मनोविज्ञान की दृष्टि से आत्म-विरोधी और समाज-शास्त्र की दृष्टि से आत्म-प्रतिकूलता और अवास्तविकता के फलस्वरूप सदैव स्वतन्त्रता-शून्य और आत्म-प्रतिकूल होगी।

क्लेगीस का शक्तिवाद भौतिक रहस्यवाद है। स्पैन का साकल्य-वाद आध्यात्मिक रहस्यवाद है। दोनों में से एक भी वैयक्तिक स्वतन्त्रता की कल्पना करने को तैयार नहीं है। दोनों मनुष्य को अहंभाव-हीन, अनहंवादी बनाते हैं। क्लेगीज़ निट्शे के अराजकवादी व्यक्तिवाद को नष्ट करके उसकी शक्ति-उपासना को पशु-बल पूजा में परिणत कर देता है। वह आदिमानव, प्रारम्भिक पशु-पुरुष-प्राणी से आगे नहीं जाता। जैसे क्लेगीज़ निट्शे की परिवर्तनशीलता को ताक पर रख देता है वैसे ही स्पैन हैगल के पूर्ण पुरुष (Absolutemind) को अपनाकर उसके क्रान्तिकारी द्वन्द-वाद के परिवर्तन या प्रगति की प्रक्रिया के सिद्धान्त को अस्वीकार करता है।

क्लेगीज़ की शक्ति-पूजा जाति की पूर्वेतिहास काल तथा पूर्व-चेतन काल की अवस्था है। यथार्थ नात्सीवाद इन क्लेगीस के शक्तिवाद या जातिवाद तथा स्पैन के साकल्यवाद-समाजात्यवाद के बीच में है। उनका शक्तिवाद राष्ट्र के स्थान पर जाति का उपयोग करता है और जीवन के अर्द्ध चेतन अथवा अचेतन व्यापारों

को ही सही मानता है। वह मनुष्य की व्यक्ति न होने की सामर्थ्य में ही उसकी यथार्थता मानता है। नात्सियों का जातीयपन या समाज वास्तविक सम्पूर्ण तथा अपौरुषेय है। अल्फ्रेडरोजेनवर्गनात्सीवाद का सर्वोत्तम भाष्यकार है "The myth of the 20 h Centuary" वीसवीं सदी की कपोल-कल्पनायें नामक पुस्तक में उसने अपने विचार प्रगट किये हैं। उसने क्लेगीज और स्पैन दोनों के सिद्धान्तों की महत्ता को अस्वीकार करके क्लेगीज के मानव-शास्त्र को जातिवाद के दृष्टिकोण से संशोधित किया है तथा स्पेन के समाज सम्बन्धी मन तथा आत्मा सम्बन्धी जाज्वल्य गुणों का क्लेगीज के आदिमानव की सजीव देह से सामञ्जस्य नौर्डिक जाति में किया है। रौसनवर्ग के मतानुसार नौर्डिक जाति का मन प्राकृतिक तौर पर शक्ति-उपासक है। रौसनवर्ग का दर्शन विशेतः शक्ति-पूजा का दर्शन है। उसके मतानुसार नौर्डिक जाति का एन्द्रिक (organic) सिद्धान्त जिसे सत्य निर्णीत करे वह सत्य है। तर्क-शास्त्र और विज्ञान, कला-काव्य, सदाचार, और धर्मादि के सर्वोच्च मूल्य जाति के इस ऐन्द्रिक सत्य के भिन्न-भिन्न पहलू-मात्र है। समस्त सच्ची सभ्यता जातीय जीवन और चेतन्य विशेपताओं के अनुसार जातीयपन चेतन करे साँचे और स्वरूप की सिद्धी के साधन-मात्र हैं।

परन्तु रोसेनवर्ग जाति को केवल रक्त रज रचित नहीं मानता। जाति की पहिचान उसके चरित्र-व्यवहार से होती है। देह सम्बन्धी विशेपताओं से नहीं। जाति की देह नहीं उसकी आत्मा उसकी पताका-वाहिनी होती है। ऐसी देहात्म विशिष्ट जाति का

मूल्य सर्वोपरि है। मानव संसार ऐसी अनेक जातियों में बंटा हुआ है इनमें कुछश्रेष्ठ है, कुछ कनिष्ट क्योंकि विश्ववाद अजातिवादी तथा मानव एकता, समता और भ्रातृता के भावों से समाविष्ट होता है। इसीलिये वह जातिवाद, विषमतावाद और विशेषतावाद के नाम पर उसका विरोध करता है। उसकी मानव-जीवन सम्बन्धी धारणा में लोकतंत्र, सार्वजनिकवाद तथा समता-स्वाधीनता और सहभ्रातृता के विवेक-वाद के लिये कोई स्थान नहीं। उसका राज और समाज सम्बन्धी सिद्धान्त जातीय है जो संस्था-वाद, अधिकारवाद, जातीय-राष्ट्रीयता और साकल्यवाद में विकसित होता है। उसके मतानुसार व्यक्ति और राष्ट्र एक समान नहीं। वह लोकतन्त्र का विरोधी तथा राजनीति में लोकतन्त्रीय सिद्धान्तों और संस्थाओं का उन्मूलन चाहता है। उसकी सम्मति में सामाजिक विचार और सामाजिक संगठन की अनिवार्य वास्तविकतायें रक्त और रज ही हैं।

इन विचारों के अनुसार नात्सीवादी समाज-शास्त्र समाज के एक ऐसी भवन व्यवस्था का निर्माण करना चाहता है जिसमें पूर्ण अर्थात् राज उसमें रहने वाले व्यक्तियों के वैयक्तिक सेवाओं और उद्देशों पर अवलम्बित न रहे। वह लोकतन्त्र के स्वरूप का नहीं उसके सार का विरोधी है। वह मानव प्रणालियों को केवल उत्पादक या श्रम-निरत पशु-मात्र मानता है। उसकी वास्तविक सामाजिक और राजनैतिक संस्कारों, कार्यों या धन्धों अथवा व्यापारों व्यवसायों की भित्ति पर निमित होती है। वे मनुष्य को सारतः अर्थोत्पादक मानते हैं। राजनैतिक संस्थाओं

में प्रतिनिधित्व आर्थिक व्यापारों के आधार पर किया जाता है। उनमें विचारों, आदर्शों और संस्थाओं के आधार पर कोई प्रतिनिधित्व नहीं मिलता। इसके परिणामस्वरूप जो 'संघीय राज' बनता है उसमें समाज की रचना करने वाले व्यक्तियों की चेतन-संकल्प या उद्देशों का कोई महत्व नहीं होता, न उसमें व्यक्ति का तदनुकूल उत्तरदायित्व ही होता है।

इतिहास की रोसैनवर्गीय व्याख्या वैयक्तिक स्वाधीनता के विस्तार अथवा सिद्धान्त पर आधारित न होकर बलिष्ठ और पवित्र जाति के उद्देश-विशेष और क्रियाशीलताओं पर निर्भर है। उसके मतानुसार अतीत का इतिहास वर्गों के संघर्ष का इतिहास नहीं, जातियों के संघर्ष का इतिहास है। इतिहास का भावियोदेश जर्मन नौर्डिक जाति की रक्षा तथा आत्म-शक्ति और उस जाति की इकाइयों को शक्ति तथा गौरव-सम्पन्न बनाना है। उनके मतानुसार नौर्डिक जाति ही आधुनिक राज और संस्कृति की सृष्टि तथा संस्थापना करके संसार पर शासन और उसकी सम्पत्ति का सदुपयोग कर सकती है।

रोसैनवर्ग के मतानुसार वास्तविक नौर्डिक धर्म, आत्म-सम्मान, जात्यभिमान और जाति-स्वातन्त्र्य का धर्म है। उसकी सम्मति में वे ही सनातन और सर्वव्यापी सार तथा पूर्ण सत्य हैं। स्वजाति की पूजा करो, उसकी स्वाधीनता की रक्षा करो; इन्हीं दो उद्देशों की पूर्ति के लिए अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन करो, यही रोसैनवर्ग का, जर्मनों के लिए, सदाचार शास्त्र है। उसकी स्वाधीनता जातीय-स्वाधीनता है। उसमें समस्त जाति के

लिए व्यक्ति की अधीनता सन्निहित है जिससे जाति अपने भाग्य का निर्माण, आत्मोद्देश की पूर्ति कर सके। नौर्डिक जाति का उद्देश-विशेष समस्त संसार को विजित करना है। इस उद्देश की पूर्ति के लिए नात्सियों ने भौगोलिक-राजनीति को विज्ञान बनाया है। इस उद्देश में कनिष्ठ जातियों पर अपनी संस्कृति का थोपना, और संसारव्यापी साम्राज्य स्थापित करने, अपने सांस्कृतिक उद्देश को सिद्ध करने में, कनिष्ठ जातियों के जन-शक्ति तथा भौतिक-सम्पत्ति का उपयोग करना भी सम्मिलित है।

नात्सी कानून का सर्वोच्च सिद्धान्त नौर्डिक जाति की रक्षा करना है। उसके दण्ड-विधान का सर्वोच्च सिद्धान्त राजनैतिक तथा सामाजिक देह से जाति-प्रतिकूलों का मूलोच्छेदन, उनका बीज-वंश मिटा फेंकना है। उसकी वैदेशिक नीति जातीय इकाइयों में संसार के बंटवारे और समस्त संसार पर नौर्डिक जाति के स्वामित्व के सिद्धान्तों पर निर्भर है।

बोना विश्व-विद्यालय में सामाजिक मानव-शास्त्र का प्रोफेसर हैंसगंथर नवीन नात्सी मानव-शास्त्र और समाज-शास्त्र का समर्थक है। वह फिशे, हैगल, गोबीनो, निट्शे, ट्रीट्श्के, चैम्बर-लैन, स्पैंगलर, नोमेंन, मॉलर वैन डैन ब्रक, क्लेगीस, स्पेन और रोसैन बर्ग की परम्परा का प्रतिनिधि है। उसके सिद्धान्त, जातीय तथा मानवीय, शारीरिक और नैतिक असमानताओं का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तानुसार नौर्डिक जाति सर्वाधिक सृजनकारी जाति है। उसकी वृद्धि तथा शुद्धि एवं उसके विकास और उसकी संस्कृति का निवास-स्थान सर्वोपरि कर्त्तव्य।

नात्सियों और और फासिस्तों के ये सिद्धान्त, मैंल्किनी के लोकतन्त्रीय, उदार और मानव-वादी राष्ट्रीयता के सिद्धान्तों के पूर्णतया प्रतिकूल हैं। दोनों में ज़मीन आसमान का फ़र्क है।

नात्सियों के विचारानुसार वैयक्तिक स्वाधीनता, जातीय-सम्मान और स्वाधिनता के अधीन होनी चाहिए तथा स्वजातीय डिक्टेटर की राष्ट्र के ऊपर असीम-अपर्याटिक सर्वाधिकार होने चाहिए। नात्सियों का राज सजीव देह के रूप में, संघीय तथा अधिकार-सम्पन्न होता है जिसका एक-मात्र उद्देश जाति की वृद्धि और शुद्धि करना तथा जातीय एकता को पुष्ट करना, जाति के भीतर वर्ग-संघर्षों को वन्द करना, लोकतन्त्र, समाजवाद, क्रांतिवाद, अंतर्राष्ट्रीयवादों को दबाकर अन्त में समस्त संसार तथा उसकी समस्त सम्पत्ति और साधनों पर स्वमित्व स्थापित करना है।

राज का अधिकार, जनता-प्रदत्त नहीं, उसके साकल्य से सम्भूत है। हां, वैयक्तिक नेतृत्व का योग और उसका सिद्धान्त अपना विशेप मूल्य रखता है जो इस राज के सर्वाधिकार सिद्धान्त से तनिक भी सीमित और सङ्कुचित नहीं होता। समस्त अधिकारों का प्रवाह नेता से निसृत होकर नीचे की ओर जाता है। समस्त उत्तरदायित्व का भार नीचे, व्यक्ति से उठकर, उपरोपरि अधिकाधिक बढ़ता जाता है।

नात्सियों का महान् नायक चुना नहीं जाता-वह बहुसंख्यक व्यक्तियों की वोटों का भिखारी नहीं। वह अपने गुण-कर्म से उत्थित होकर शक्ति-सम्पन्न होता है। जातीय जन-सागर-

उसे केवल स्वीकृत या अस्वीकृत करने भर का अधिकारी है। "केहरि को अभिषेक किमि कीन्हेउ विप्र समाज" वाली बात है। यह महान् नेता केवल ईश्वर के सामने जवाबदेह है और जन-गण की भलाई, उनका हित-सम्पादन उसकी जिम्मेदारी है। वह निर्भ्रान्त है-उसमें कभी कोई ग़लती हो ही नहीं सकती। जब जाति को उसकी आवश्यकता होती है तब वह अवतरित होता है। शक्ति और उत्तरदायित्व थोड़े से चुने हुये पुरुष-पुङ्गवों के हाथों में केन्द्रित होती है। ये जाति-रत्न नेता के अधीन, उसके सामने जवाबदेह होते हैं। नागरिकों का कर्त्तव्य जातीय अधिकारियों की आज्ञा का पालन करना है। उनका सर्व प्रथम कर्त्तव्य अधिकारियों के अधीन रहना है। नागरिकता का अधिकार केवल जर्मन नागरिकों को हैं। ये नागरिक आर्थिक और व्यावसायिक संस्थाओं की श्रेणियों में शृंखला-बद्ध होकर संगठित रहते हैं। इसके परिणामस्वरूप जो राजनैतिक-सङ्गठन होता है वह सङ्घीय सङ्गठन होता है।

नात्सी-वाद के अनुसार संयुक्त मानव-जाति का अस्तित्व ही नहीं। समस्त संसार पर शासन करना नौर्डिक जाति का अधिकार है। युद्ध आवश्यक है। शक्ति ही समुचित है। मानव-जाति के इतिहास में तथा उसकी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों में बल का निर्णय अन्तिम निर्णय होता है। युद्धों से जातीय-गुणों और राष्ट्रीय शक्ति का विकास होता है। तमाम मानव-जाति की आम उन्नति के लिए नहीं, सर्व श्रेष्ठ आदर्श जाति की उन्नति के लिए युद्ध आवश्यक है। विजय के लिए, भूमि प्राप्ति के लिये

और सर्व श्रेष्ठ जाति की बहतरी के लिए किये जाने वाले युद्ध वांछनीय है। यही वर्त्तमान जाति के जीवन के लिये, आवश्यक भूमि-भाग का सिद्धान्त है।

नात्सियों के विचारानुसार जीवन का कोई भी पहलू अथवा क्षेत्र राज के नियन्त्रण, हस्तक्षेप तथा पथ-प्रदर्शन से परे नहीं। राज का सम्बन्ध समाज के समस्त संकल्पों, विचारों और मनोभावों से है। जाति और समाज का तथा राज का विस्तार एक ही है। राज परिमाणुक और यान्त्रिक नहीं, ऐन्द्रिक और ऐतिहासिक है। राज को सर्वोच्च अधिकार प्राप्त हैं। नेता का बल और उसकी शक्ति, उसकी रहस्यमयी अन्तर्दृष्टि में है। उसकी प्रेरणा और शक्ति के पीछे उसके सहज मनोधर्म और उसके संकल्प रूपी अन्धी शक्तियां रहती हैं।

आधुनिक विचार-धारानुसार राजनैतिक प्रगतियाँ तर्क-सम्मत या विवेकयुक्त नहीं होतीं, वे प्रेरणात्मक तथा विवेकेतर होती हैं। समस्त-सामूहिक कार्यों की प्रेरणा भाव-प्रवण होती है। समस्त मानव-सभा-समाज पवित्र भक्ति-भावों से आबद्ध रहती हैं। अव्यक्त-बुद्धि नियन्त्रित नहीं। इस दृष्टि से राजनीति-विज्ञान तभी पूर्ण हो सकता है जब वह विवेकेतर को विवेक-युक्त बनावे। नात्सियों ने इस उद्देश की सिद्धि नौर्डिक जाति की श्रेष्ठता की कल्पना करके मानली है। नात्सियों के दृष्टिकोण, राजनैतिक व्यवहार प्रगतिशील विचारों की विवेकयुक्त व्याख्या पर भाववाचक दार्शनिक सम्प्रदायों से नहीं होतीं, परन्तु उन सामाजिक और मनोवैज्ञानिक प्रसङ्गों से होती है जातीय भाव को जाग्रत तथा

उसकी प्राप्ति के लिए संकल्प सुदृढ़ करके उसे भविष्य की झांकी कराके उस उद्देश की पूर्ति के लिए मानव शक्तियों को प्रवाहित करती है।

नात्सियों के जाति-सम्बन्धी, राज-सम्बन्धी, डिक्टेटर-सम्बन्धी तथा इतिहास सम्बन्धी सिद्धान्तों की कितनी ही आलोचना क्यों न की जाय, परन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि जिस प्रयोजन से उनका प्रचार किया जाता है उनकी सिद्धि के लिए वे मूल्यवान और कारगर सिद्ध हुई हैं।

जातीय श्रेष्ठता का भाव जर्मनों तक ही सीमित नहीं है। इस सिद्धान्त का सर्वश्रेष्ठ शास्त्रीय तथा सैद्धान्तिक वर्णन और विवेचन गोवीनो ने किया है। उसके कथनानुसार एङ्गलो-सेक्सन यानी अँग्रेज़ और जर्मन इस सिद्धान्त के सबसे कट्टर उपासक हैं। अँग्रेज और जर्मन दोनों यह समझते हैं कि खुदा ने खास तौर पर उन्हें इस बात के लिये चुना है कि वे मानव जाति को उसके ध्येय की ओर ले जाँय। वे समझते हैं कि दूसरों का सर्व-नाश करके श्रेष्ठतम जाति का अर्थात् अपना अभ्यूदय करते हैं। जातीय श्रेष्ठता की यह मनोवृत्ति वास्तव में यूरोपीय मनोवृत्ति है। समुद्र पार के महाद्वीपों में आसानी के साथ उनको वर्बरतापूर्ण विस्तार से उनके मन में जातीय श्रेष्ठता की धारणा को जड़ जमाई और मज़बूत की और इसी साम्राज्यवाद ने यूरूप भर में वर्गीय तथा राष्ट्रीय संघर्षों की सृष्टि की।

जाति सम्बन्धी सिद्धान्त वैज्ञानिक दृष्टि से सन्दिग्ध सिद्धांत हैं, परन्तु कपोल-कल्पना की दृष्टि से वह सुविधाजनक तथा

शक्तिशाली 'मन-मोहक' है। इतिहास और समाज-शास्त्र की दृष्टि से जातियाँ अब शुद्ध नहीं रहीं वे मिश्रित हैं।

फासिस्तवाद आदर्शवादी राजनैतिक सिद्धान्तों को कार्यरूप में परिणत करता है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कम्यूनिस्त मार्क्स-वादी विचारावली को कार्यान्वित करते हैं। आदर्शवादी राजनैतिक सिद्धान्त ही फासिस्तवाद के मुख्य स्रोत हैं। फासिस्तवाद जीवन का एक रुख़, दिमाग़ का एक मिजाज़, सरकार के सम्बन्ध में एक धा-रणा, राज-सम्बन्धी एक सिद्धान्त है। कम्यूनिज्म की तरह फैसिज्म भी केवल लोकतन्त्र और समाजवाद का खण्डनमात्र नहीं परन्तु मानव आत्मा का पुनरुत्थान है। वह मनुष्य के सम्पूर्ण कर्तव्य-शास्त्र का निर्देश करता है। फैसिज्म और कम्यू-निज्म दोनों ही धर्म (नीति) तथा राजनीति को एक मानते हैं। दोनों ही नागरिकता को सक्रिय बनाते हैं। दोनों ही व्यक्ति के प्रत्येक कार्य्य और विचार पर नियन्त्रण रखते हैं। दोनों ही अपने वाद की मानव-आत्मा का जागरण और विपक्षीवाद को आत्मा का सर्वनाश बताते हैं। दोनों ही अपने पक्ष को नवयुग का उदय और दूसरे पक्ष को अन्धकार-युगों की पुनरावृत्ति बताते हैं। कुछ लोगों की राय में फासिस्तवाद सबल तथा हृष्ट-पुष्ट शरीर वाले सक्रिय तथा साहसी लोगों का भाव-प्रधान विद्रोह बताते हैं-उन लोगों का विद्रोह जो भुज-बल को बुद्धि-बल से श्रेष्ठ समझते हैं।

फैसिज्म-नात्सीज्म या इम्पीरियलिज्म और कम्यूनिज्म तीनों ही धर्म की खाली जगह पर आकर अधिष्ठित होते हैं।

मानव हृदय से मानवेतर शक्ति—ईश्वर की पूजा की भूख कभी दूर नहीं होती। यदि उसे ईश्वर को पूजने से रोका जायगा तो वह वर्ग, जाति, नेतादि की पूजा करने लगेगा। पश्चिम के ये तीनों वाद मानव हृदय की इस प्रेरणा का अपने-अपने पक्ष-समर्थन के लिए पूर्ण दुरुपयोग करते हैं।

ये सब के सब मानव-समाज की प्रगति की धीमी गति के विरुद्ध अनजान विद्रोह हैं। कम्यूनिस्त, फैसिस्तवाद और नात्सीवाद को पूँजीवाद का अन्तिम रूप कहते हैं। वे दोनों अपने वादों को मानव-समाज का पुनरुत्थान, सम्पत्ति पूजा, पूंजीवाद और मार्क्सवाद दोनों के अर्थ-स्वार्थवादी सिद्धान्तों के प्रति मानव-मन का वैराग्य-प्रतिक्रिया बताते हैं।

फासिस्तवाद में राजनीति तथा आचार-नीति का एकीकरण होता है। वह स्वामिभक्ति, अनुशासन, सेवादिगुणों को, राज-नीति में अराजकता, सदाचार क्षेत्र में अव्यवस्था, धर्म में अश्रद्धा, नास्तिकता तथा यौनि-आचार भ्रष्टता, व्यभिचारादि दुराचारों के विरुद्ध अत्युच्चस्थान देने का दावा करता है।

व्यक्तिवाद के स्थान पर वह जातीय तथा राष्ट्रीय एकता-सङ्गठन का समर्थक है। यह अतिराष्ट्रवादी सिद्धान्त, राष्ट्रात्मा के व्यक्तिकरण का सिद्धान्त है। इनकी राय में तर्क जीवन के उपयुक्त नहीं। जीवन एक कला है जिसके स्वरूप को अन्तर्दृष्टि से ही समझा जा सकता है। जीवन पूर्ण इकाई है। उसकी झाँकी मनुष्य की सहज अन्तर्दृष्टि से ही मिल सकती है।

जर्मन विद्वान 'हीडोगर' (Hei dogger) का कहना है कि जीवन के सम्बन्ध में हम दार्शनिकों से उतना नहीं सीख सकते जितना भोले भक्त और श्रद्धालु किसानों से। व्यवसाय-क्षेत्र, सैनिक विद्यालय, खुले-खेत और समर-भूमि, जीवन को समझने के लिए वास्तविक पाठशालायें हैं, अध्ययन और प्रयोग के कमरे नहीं। उसके मतानुसार फासिस्तवाद किताबों से नहीं, कार्यों और संघर्षों द्वारा ही सीखा जा सकता है।

डाक्टर फ्रिक की राय में जाति को ऐसे मनुष्यों-स्त्री पुरुषों की आवश्यकता है जिनके समस्त विचार और कार्य राष्ट्र-मूलक हों, जिनका राष्ट्रीय इतिहास और राष्ट्रीय भक्ति-भाव से अविच्छिन्न सम्बन्ध हो। उसकी राय में प्रश्न, उत्साह और दुर्दम्य मनोरथों का दिव्य और सनातन मूल्यों का है, ठण्डी सच्चाई अथवा वास्तविकता का नहीं।

फ़ासिस्तवादी विचारों से कार्यों को कहीं अधिक श्रेष्ठ और मूल्यवान मानते हैं। उनकी दृष्टि से विचारों से कार्यों का पक्षाघात होता है। कार्यों में मानवात्मा व्यक्त होती है। वह अपने कार्य की दिव्यता में सन्देह नहीं कर सकता। फ़ासिस्तवादियों के ये सिद्धान्त दुरूह तथा परिवर्तनशील प्रतीत होते हैं परन्तु उनकी मनोदशा सुस्पष्ट और सुनिश्चित है।

इतालियन फासिस्तवाद के अनुसार जीवन एक चुनौती है या होनी चाहिए जिससे हम अपनी इन्द्रियों को सचेत, अपनी शक्तियों को सुशिक्षित, अपनी अनुभव की भूख को प्रज्वलित तथा अनियन्त्रित अपने मनोभावों को तीव्र और भोले-भाले रख

सकें। इनकी सम्मति में सदाचार सम्बन्धी नियम अनुल्लङ्घनीय होते हैं तथा वे शुद्ध आत्मा से ही जाने जा सकते हैं और अनुशासन शील, तपोमय पुरुष ही सदाचार-नियमों का पालन कर सकते हैं। अतः प्रत्येक फासिस्त का कर्त्तव्य यह है कि वह अपनी आत्मा को उज्ज्वल तथा मनोविकारों को वश में रक्खे।

फासिस्तवादियों के मत में अन्त में भौतिक-जगत आध्यात्मिक जगत के आधीन तथा उसीसे निर्दिष्ट होता है। मूल्यों के सम्बन्ध में मानवों की भावनाएँ, उनके सदाचार सम्बन्धी सिद्धान्त, सदसत् के प्रकार के सम्बन्ध में उनकी पैनी दृष्टि ही इतिहास की घटनाओं का तथा समाज के राजनैतिक बनावों का निर्णय करती है। ये इतिहास की भौतिक तथा वैज्ञानिक तार्किक व्याख्या को अस्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि वह मानव कल्पना के स्वभाव तथा मन की आत्मा-प्रवंचना का परिणाम है।

फासिस्तवाद ऐसे मनुष्य-स्त्री-पुरुष चाहता है, जो अपने मत के निर्भय नेता (Heros) हों, जो आत्म-त्याग की भावना के उपासक हों, आपत्ति के मुख में हँसते हुए दौड़ जाते हों तथा अपने उद्देश के लिए प्रसन्न वदन प्राण त्यागने को सदैव तत्पर रहें। इसी को यह फासिस्तवादी क्रान्ति या पुनरुत्थान कहते हैं।

फासिस्तवादियों की राय में भौतिक सुख या सम्पत्ति मानवोद्योग का सही उद्देश नहीं। शक्ति-उपासना ही मानवोद्योग का सर्वोपरि ध्येय है। शक्ति प्राप्त करनेवालों का संकल्प

ही सब कुछ है। फासिस्तवाद मानव संख्या की वृद्धि का अधिकांश लोगों के अधिक सुख अथवा हित का सिद्धान्त नहीं—गुण-चुनाव का, श्रेष्ठ शक्ति सम्पन्नों की वृद्धि का सिद्धान्त है।

वह सब प्रकार के सुख-वाद का, उपयोगितावादियों के मतानुसार सब की समनता के सिद्धान्त का, बहुमत के स्वामित्व के सिद्धान्तों को अस्वीकार करता है। फासिस्तवाद के अनुसार सर्वजनेच्छा को लोगों के सर या उनकी नाकें गिन कर नहीं जाना जा सकता। उन्हीं की वोटें गिनी जानी चाहिए जो वास्तव में निस्वार्थ भाव से वोट देते हों। सत्य और उचित का पता मुण्ड गिनकर नहीं किया जा सकता। फासिस्तवाद के मतानुसार राज का उद्देश व्यक्तियों के व्यक्तित्व का विकास नहीं। उनकी राय में व्यक्तियों को समस्त व्यर्थ की और सम्भवत: हानिकर स्वतन्त्रताओं से वंचित करके उतनी ही स्वतन्त्रता देनी चाहिए जितनी ठीक समझें।

फासिस्तवाद सम्मति को समस्त मूल्यों का माप मानने से तथा उन्नीसवीं शताब्दी की आर्थिक मनोवृत्ति को सही मानने से इनकार करता है। उसके अनुसार अधिक से अधिक सम्पत्ति उपार्जन करने के पीछे न पड़कर राज और मनुष्य को स्वस्थ सामाजिक-व्यवस्था की खोज के पीछे पड़ना चाहिए।

फिशेर (१७६२—१८१४) का फासिस्तवाद पर बहुत प्रभाव पड़ा। उसके मतानुसार जो लोग राष्ट्र में अपने व्यक्तित्व को लीन कर राष्ट्र के लिये सदैव आत्मोत्सर्ग करने को तैयार रहें वे ही श्रेष्ट हैं और जिनमें यह भावना नहीं वे कनिष्ट। कनिष्टों का

काम उन श्रेष्ठों की सेवा करना है जिनमें उच्चतम देश-प्रेम में सर्व-मयी ज्योति की तरह जलने का भाव ओत-प्रोत भरा हो। उसकी राय में संकल्प शक्ति मनुष्य के मनुष्यत्व का मूल है। मानव के संकल्प की ऐतिहासिक व निर्णायक शक्ति में उनका पूर्ण विश्वास हो और इसी संकल्प शक्ति को वे श्रेष्ठ पुरुष की मुख्य पहचान बताते हैं। श्रेष्ठ सबलों का स्वार्थ ही उनकी राय में न्याय है। राष्ट्र का हित-साधन ही इन श्रेष्ठों का एक-मात्र उद्देश है।

निट्शे की राय में सुख-वाद का सिद्धान्त पशु-उचित सिद्धान्त है, मनुष्योचित नहीं। उसकी सम्मति में जो प्रचलित सदाचार-सम्बन्धी माप-दण्डों से ऊपर उठे वही श्रेष्ठ है। संकल्प शक्ति ही नैतिक तथा आध्यात्मिक श्रेष्ठता की सर्वोत्तम पहचान है। उसकी राय में क्रान्ति रूपी सामाजिक तथा राजनैतिक भूकम्प सड़ी-गली-खोखली, धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक संस्थाओं को नष्ट-भ्रष्ट करने के लिये अनिवार्यतः आवश्यक है। निट्शे के मतानुसार दासों और निर्बलों के सदा-चार सम्बन्धी बन्धन सबल स्वामियों को नहीं बाँध सकते, उनकी प्रगति की गति नहीं रोक सकते। उसकी राय में उपयोगिता-वादियों का कर्त्तव्य-शास्त्र दासों का, अपने मतबल से मतबल वालों का कर्त्तव्य-शास्त्र है। श्रेष्ठ पुरुष के लिए यह लाज़िमी है कि वह मानव को अपने वश में करके मानवेतर बने। ज्ञान का सूत्र या उसका शूर-योद्धा बने।

निट्शे के मतानुसार युद्ध निर्बल-कोमल हो जाने वाले राष्ट्रों को बलवान् बनाता है तथा शक्ति-सम्भूत उनकी दुर्बल-दुर्भाव-

नाओं से उन्हें दूर हटाकर उनकी आत्म-शुद्धि करता है। उसकी राय में निर्वल और घृणित राष्ट्रों के लिए युद्ध ही अमोघ-औषधि है।

स्पेंगलर ओसवाल्ड की सम्मति में भी युद्ध का मनोवैज्ञानिक संघर्ष ही सतत की प्रक्रिया का सर्वोत्तम उपचार है। अतः युद्ध को ध्येय रूप से गौरवान्वित करना चाहिए। युद्ध निर्वलों को नष्ट कर सवलों की वृद्धि करता है तथा संजीवन गुणों को विकसित करता है। कष्ट सहन करना महानता का स्रोत है। इनके मतानुसार ईश्वर, जाति, राष्ट्र, समाज या रक्त में ही दर्शन देता है। इटालियन फासिस्तों का कहना है कि ऐसे वलि-दानी वीर श्रेष्ठ पुरुष ही यह जानते हैं कि सदाचार क्या है? कार्लाइल की सम्मति में राज की समस्या समाज के श्रेष्ठ पुरुषों को खोजना है। जिनमें सर्वजनेच्छा मूर्त्तिमती होती है वे ही श्रेष्ठ हैं। फासिस्त राज के आदर्शवादी सिद्धान्त को मानते हैं। उनकी सम्मति में व्यक्ति राज या राष्ट्र के प्रति अपने कर्त्तव्य का पूर्णतया पालन करके स्वयं अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सकते हैं। उनके मतानुसार नेताओं की आज्ञाओं का पालन करने, आदर्श पर वलि होने से व्यक्ति स्वार्थ तथा पार्थक्य भाव से ऊपर उठता है।

फासिस्तवादियों—विशेषकर-नात्सीवादियों के मतानुसार नेता का कार्य है कि वह विविध व्यक्तियों की भीड़ को सामान्य सामूहिक इकाई, आत्म विश्वासी राष्ट्र में परिणत करे। इसी अर्थ में राज अथवा राष्ट्र अपने सदस्यों के व्यक्तित्व की वृद्धि

करता है। राष्ट्र के अन्दर व्यक्ति के समान जीवन और स्वार्थों की अभिव्यक्ति राज-मूलक ही होनी चाहिए। इनके मतानुसार पार्टी सर्वजनेच्छा का भाष्य अथवा अर्थ करती है।

नात्सी तथा फासिस्त राज-सम्बन्धी जिस आदर्शवादी सिद्धान्त को मानते हैं उसके मुख्य प्रतिपादक जर्मन दार्शनिक हैगल और अंग्रेज दार्शनिक एफ—एच ब्रैडले (१८४६–१९२४) तथा डाक्टर बौलैन क्लैंट हैं। बौलैन क्लेन्ट ने अपना पक्ष राज सम्बन्धी दार्शनिक सिद्धान्त (The Philosophical theory of State) नामक पुस्तक में किया है।

हैगल ने सामाजिक धर्म शीलता (Social) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसके मतानुसार राज इस सामाजिक धर्म-भाव का स्रोत तथा भण्डार है। स्वतन्त्र जन (People) सामाजिक अन्त.करण द्वारा नियोजित तथा सामाजिक मतों के रूप में अभिव्यक्त जीवन की आदत और भावना ही एक-साथ समाज का मन और आत्म-चेतना स्वरूपिणी होती है। वह राज को सजीव पुरुष मानता है जिसकी इच्छा, सर्वजनेच्छा तथा जिसका सदाचार सामाजिक धर्म-भाव होता है। राज एक नैतिक पुरुष होता है जिसका उद्देश नैतिक होता है-राज स्वयं नैतिक-राज (ethical) है। हैगल के मतानुसार राष्ट्रात्मा प्रत्येक व्यक्ति को उसके अन्त-स्थल से नियन्त्रित तथा प्रभावित करती है जिससे वह व्यक्ति उसे अपनी ही आत्मा तथा अपना एकमात्र अन्तिम जीवनोद्देश समझता है।

ब्रैडले भी समाज को केवल नाम न मानकर उसे वास्तविक

मानता है। उसकी राय में व्यक्ति जो कुछ है समाज के कारण, उसी के बल से है। सन्तति की जातीय प्रवृत्तियाँ और पारिवारिक लक्षण विरासत में मिलती हैं। राज सम्पूर्ण देह है जो अपने प्रत्यङ्गों से बड़ा तथा उसमें प्रथम है और जिन अङ्गों में वह अपने को अभिव्यक्त करता है उनसे पहिले जन्म लेकर उनको निर्णीत करता है।

मुसोलिनो के मतानुसार राज सजीव देह-अपनी उत्पत्ति और विकास में राष्ट्रात्मा का व्यक्तीकरण है जो प्रत्येक स्त्री-पुरुष से तथा वैयक्तिक जीवन की सीमाओं से परे उठकर राष्ट्र की सर्वव्यापी आत्मा का प्रतिनिधित्व करता है। इनकी राय में राजनैतिक दृष्टि से उच्चतर तथा निस्वार्थ सार्वजनेच्छा सम्पन्न होता है।

डाक्टर वौसैन क्वेट का मत है कि राजनैतिक शिक्षा का उद्देश राष्ट्र भक्ति को छोड़कर अन्य सब भक्तियों को उन्मूलित कर देना होना चाहिए। ब्रैडले के मतानुसार व्यक्ति का जीवन, उसका कर्तव्य मुख्यतः समूचे समाज में उसके स्थान पर निर्भर रहता है। उस समाज के स्थान पर जो अपनी कानूनों, संस्थाओं तथा भावना द्वारा उसे वह जीवन देता है जिसको वह नयन करता है और जिस जीवन को उसे नयन करना चाहिए। इनके मतानुसार राज सजीव होता है उसके आत्मा होती है। यही आत्मा नागरिकों की चेतना होती है। प्रत्येक नागरिक को राजरूपी सजीव आत्मा उसके कार्य का क्षेत्र बताती है। वैयक्तिक स्वाधीनता राष्ट्र की सेवा में ही मिल सकती है। वह नैतिक संकल्प अर्थात्

राष्ट्र की आज्ञा मानने में ही व्यक्ति की सच्ची स्वाधीनता है। राज के अधिकार सर्वोपरि हैं। वह सदाचार के नियमों से आवद्ध नहीं, उनसे स्वतन्त्र होता है। युद्ध में राज का प्राण परिवर्द्धित होता है। हैगल के शब्दों में तो "राज ही" "वास्तविक परमेश्वर" है। वही मानवी संगठन का प्राकृतिक, आवश्यक और अन्तिम स्वरूप है। हैगल राज की कमी नहीं वेशी चाहता है। उसके मत में राष्ट्र की भक्ति और उसके लिए आत्म त्याग करने से हमारे व्यक्तित्व का विकास होता है तथा हमारे ओछे उद्देशों और मानवी स्वार्थ-परता से हमें मुक्ति मिलती है। यूनानी राज-नैतिक विचार-धारा के अनुसार सात्विक जीवन राज में ही सम्भव है। भारतीय राजनीति-शास्त्र का भी यही विचार है।

हिन्दू संस्कृति के अनुसार फासिस्तवाद की उपमा क्षात्र-भावा रज-पूती दर्शन से दी जा सकती है यद्यपि भारतीय तथा पाश्चात्य संस्कृति में आधारभूत भेद होने के कारण यह उपमा सर्वथा सही नहीं क्योंकि भारतीय क्षात्र-धर्म तथा रजपूती दर्शन भी केवल शक्ति उपासक नहीं। उसकी शक्ति-उपासना उसके आत्म-विकास के अध्यात्मिक सिद्धान्त से मर्यादित है।

फासिस्तवाद की आलोचना उसके सिद्धान्त-कथन से ही हो जाती है। वह सम्पत्तिवाद और साम्यवाद के विरुद्ध प्रति-क्रिया है। सम्पत्तिवाद पूँजीपतियों का मजहब है। वह वैश्यों का धर्म है। उसमें सम्पत्ति ही सब कुछ मानी जाती है। 'सर्वेगुणाः काञ्चनमाश्रियन्ते' वाली बात होती है। राज-बुद्धि और प्रथा अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र सब तथा किसान और गाँव

भी वैश्यों के-पूँजीपतियों के अधीन-उनके उपयोग और उपयोग के साधन हो जाते हैं। साम्यवाद में भी मध्यवर्गीय लोगों-किसानों-छोटे दुकानदारों आदि को उनका समुचित स्थान नहीं मिलता। न इसमें क्षत्रिय तथा ब्राह्मण-वर्ग के ही साथ न्याय किया जाता है। फासिस्तवाद इन्हीं कमियों से लाभ उठाकर, जहाँ क्षात्र-धर्म तथा शक्ति-पूजा, राष्ट्रोपासना के नाम पर सम्पत्तिवाद और स्वार्थ-सुखवाद को नष्ट करता है। वहाँ किसानों और क्षात्र-वर्गों को अपने साथ लेकर साम्यवाद के विरुद्ध सङ्गठन करता है।

फ़ासिस्तवाद में जातीय और राष्ट्रीय भेद-भावों को अनादि अनन्त मानकर सतत संघर्ष, उनमें बराबर निरन्तर युद्ध का प्रचार किया जाता है। युद्ध के लिए युद्ध उनका एक धर्म हो जाता है। उसमें वैयक्तिक स्वाधीनता के लिए कोई स्थान नहीं है। वह घोर साम्राज्यवादी है।

'लोकतन्त्र'

लोकतन्त्र सामाजिक और राजनैतिक विज्ञान के उन जादू भरे शब्दों में से है जो मानव-सागर में उसी प्रकार ज्वार उत्पन्न कर देते हैं जिस प्रकार पूर्णिमा का चन्द्र जल-सागर में परन्तु जिसकी सर्वमान्य परिभाषा हजारों बरस से मानव-बुद्धि को सफल चुनौती दिये हुए खड़ी है। यही कारण है कि बहुश्रुत-लोकतन्त्र का कोई सुनिश्चित तथा सुव्यवस्थित शास्त्र या दर्शन नहीं। साधारणतः लोकतन्त्र का आधार सहिष्णुता और आवश्यक समझौते के वाद-विवाद तथा समझौते द्वारा मतैक्य की सतत

खोज तथा इस मतैक्य के अधिक से अधिक परिमाण पर आधारित मतैक्यानुसार कार्यों पर आधारित है। शान्ति और सद्भावों के प्रेमी लोकतन्त्र को राजनैतिक कार्य करने की सम्भावनोचित पद्धति कहते हैं।

शासन के उस स्वरूप को लोकतन्त्र कहते हैं जिसमें सरकार जनता के, नागरिकों के सामने जवाबदेह होती है और जहाँ व्यवस्थापिका सभाओं का चुनाव लोगों की स्वतन्त्र वोट से होता है। लोकतन्त्र की मुख्य पहचान यह है कि उसमें जनता अथवा उसके चुने हुये प्रतिनिधियों के बहुमत की सरकार को बदलने, मंत्रि-मण्डलों को बरखास्त करने का अधिकार होता है। लोकतन्त्र में सरकार हाल का विरोध करने की स्वतन्त्रता होती है। उसमें सरकार हाल का विरोध करने वालों के प्रति आदर्श तथा पूर्ण सहिष्णुता का होना अनिवार्यतः आवश्यक होता है। अर्थात् उसमें परस्पर विरोधी विभिन्नदलों में यह सर्वमान्य तथा अविच्छेद, सन्निहित समझौता रहता है कि अपने हाथ में शासन-सूत्र आने पर हम दूसरे विरोधी दलों को पीड़ित तथा प्रताड़ित नहीं करेंगे। उसमें विभिन्न दल शान्तिमय साधनों से अपना बहुमत करके शासन की बागडोर आपस में बदलते रहते हैं। लोकतन्त्र में विभिन्नता में वास्तविक एकता होती है। लोकतन्त्र में निग्रह कोई आवरण नहीं। एक मात्र उपचार किसी न किसी प्रकार की अभिव्यक्ति ही है।

लोकतन्त्रीय शासन-पद्धति की सफलता के लिए जो बातें जरूरी समझी जाती हैं उनमें से एक यह है कि बहुमत को चाहिए

कि वह अपनी शक्ति का इस्तैमाल इस तरीके से करे जिससे विरोधी दलों को सशस्त्र-विद्रोह के लिए विवश न होना पड़े। लोकतन्त्र का विश्वास है कि संकटों तथा भयभीतता को विश्वास-पूर्वक काबू में किया जा सकता है बशर्ते कि शासक-वर्ग में बुद्धि तथा संकल्प की दृढ़ता हो। हाँ, बहुमत को स्वयं ही परिवर्तन की गति को इस प्रकार नियन्त्रित रखना चाहिए। अपने कार्यक्रम को उस हद से आगे नहीं जाने देना चाहिए जिसमें जाने से हथियारबन्द बग़ावत होने का ख़तरा हो। उदाहरणार्थ, डिक्टेटर-शाही अथवा सम्पत्ति जब्त करने वाले क़ानून से पीड़ित लोग सशस्त्र विद्रोह करने पर उतारू हो सकते हैं। लोकतन्त्रीय राज-नैतिक दल की सफलता के लिए यह भी आवश्यक है कि उसका कार्य-क्रम ऐसा भी न हो कि जिससे दल के सदस्यों, अनुयायियों का उत्साह, उनकी सक्रिय तथा भक्तिपूर्ण सहायता ही तिरोहित हो जाय। पहला दृश्य सम्पत्ति जब्त करने वाले क्रान्तिकारी कार्य-क्रमों से होता है और दूसरा लिबरल नरम-नीति से। लोक-तन्त्र की सफलता इन दोनों अतियों, अतिउग्रता तथा अति-नरमी के बीच में है। लोकतन्त्रीय राजनैतिक दल की सफलता के लिए तीसरी आवश्यक बात यह है कि उसके कार्य-क्रम का क्षेत्र ऐसी आर्थिक और राजनैतिक समस्याओं में होना चाहिए जिनका जनता के हित से प्रत्यक्ष और निकट का सम्बन्ध हो, तथा जो उनके प्रबल दलों के कार्यों पर आधारित हों।

वास्तव में लोकतन्त्र शास्त्र अथवा विज्ञान नहीं, वह कुछ सिद्धान्तों का समूह है। वह उतना तर्क-निर्भर नहीं, जितना भाव

निर्भर हैं। और वह भाव यह है कि राज का प्रारम्भ और उसका उद्देश व्यक्तियों को अपने सर्वोत्तम गुणों का विकास करने का क्षेत्र, सामान तथा अवकाश देना है। राजनीति-शास्त्र तथा कर्त्तव्य-शास्त्र के सम्बन्ध में लोकतन्त्र के सिद्धान्त बिखरे हुये, टुकड़े-टुकड़े की शक़ल में तथा स्थायी हैं। वह राजनैतिक कार्यों को, आर्थिक क्रियाओं को गौण सृष्टि मात्र नहीं मानता। वह व्यक्ति-वाद तथा वैयक्तिक-स्वातन्त्र्य में विश्वास करता है और उसकी सम्मति में मनुष्य की आर्थिक-क्रियायें व्यक्ति की क्रियायें हैं, सामाजिक उद्देशों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। हाँ, राजनीति व्यक्तियों की मनमानी आर्थिक नीति के अच्छे परिणामों से समाज को बचाने के लिए उनमें हस्तक्षेप करती है। उदाहरणार्थ, दुकानों, कारख़ानों आदि में काम करने वाले कमेरों की रक्षा के लिए फ़ैक्टरी एक्ट, ट्रेडबोर्ड एक्ट तथा दुकानों पर प्रतिदिन काम करने को घन्टे मुकर्रर करने वाले क़ानून इत्यादि। लोकतन्त्र-वादियों की सम्मति में आर्थिक कार्यों की अपेक्षा राजनैतिक कार्यों में विशेषता यह है कि राजनैतिक कार्य साधारणतः समस्त समाज के हितों से सम्बन्ध रखते हैं जब कि आर्थिक कार्य व्यक्ति-विशेष अथवा वर्ग या समूह विशेष के स्वार्थों से ही सीमित होते हैं।

लोकतन्त्र के लिए यह आवश्यक है कि लोकतन्त्रीय शासन-पद्धति को ग्रहण करने वाले देश या राष्ट्र में रहने वाले सभी विभिन्न दल कुछ बातों को सर्वमान्य मानलें। वे बातें जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। लोकतन्त्रीय सिद्धान्तों के अनुसार

राज का आवश्यक कर्त्तव्य क्षेत्र, पृष्ठ-भूमि का कर्त्तव्य-क्षेत्र भर है। वे यह नहीं मानते कि राजनैतिक लोकतन्त्र आर्थिक सुधारों के रास्ते में रोड़े अटकाता है या रोड़ा साबित होता है। लोकतन्त्रीय शासन-पद्धति अपने सुधारों द्वारा ग़रीबी और असन्तोष की क्रान्तिकारी धार को कुन्द कर देती है और समाजवादी कार्यक्रम के कारगरपने को कील देती हैं।

लोकतन्त्रीय शासन-पद्धति में बुद्धि पर प्रभाव डालने वाले तार्किक कारण, न्याय-भाव को अपील करने वाली दलीलों और वोटों का काफ़ी असर होता है। इस शासन-पद्धति के नकारात्मक गुण ये हैं कि वह व्यक्तियों के जानो माल की हिफ़ाजत की गारन्टी करती है अर्थात् उसे आर्थिक तथा राजनैतिक वैयक्तिक स्वतंन्त्रता देती है। उसकी रचनात्मक खूबी यह है कि अच्छा जीवन नमन करने को आवश्यक कम से कम शारीरिक तथा मानसिक शिक्षा का प्रबन्ध करता है।

लोकतन्त्रवादी भी यह स्वीकार करते हैं कि समाज-सेवा लोक-सेवा द्वारा मनुष्य नैतिक अच्छाई तथा सुख के मूल्यों की अनुभूति प्राप्त करता है। बहुत से लोग उपयोगी तथा बलवती लोक-सेवा के जीवन में ही सुख-स्वादन का सबसे सुलभ सुपथ समझते हैं।

लोकतन्त्रवादियों का कहना है कि हमारे तथा वैयक्तिक स्वाधीनतावादियों के राजनैतिक सिद्धान्तों को अन्तर्दृष्टि से ही जाना जा सकता है। उनको अपने समर्थन में तर्कों का सहारा नहीं लेना पड़ता। यदि उनको न मानने वाला व्यक्ति उनमें

सन्देह प्रगट करे तो ऐसी कोई पद्धति नहीं है जिससे उनकी सत्यता सिद्ध करके संशयात्मा की शङ्का का समाधान किया जा सके।

लोकतन्त्रवादियों के दो आधार भूत सिद्धान्त ये हैं—(१) जूता पहनने वाला ही यह बता सकता है कि जूता उसके पैर को कहाँ-कहाँ दावता है इसलिये अपने लिये जूता चुनने का अधिकार उसे ही होना चाहिये। वे कार्य-क्षमता के नाम पर जनता के सुख को न्यौछावर करने के लिये तैयार नहीं है। (२) ग़लती करके उनके दुष्परिणामों के अनुभव द्वारा भविष्य में ग़लती करने से, यानी प्रयोगों द्वारा ही उन्नति होनी चाहिये। जनता की विशेषज्ञता का अभाव उसके स्वराज्य का विरोधी नहीं होना चाहिये। लोकतन्त्रवादियों का कहना हैं जिस प्रकार सैनिकों को संकटों की सतत उपस्थिति से ही शिक्षा मिलती है उसी प्रकार नागरिकों को भी ग़लतियों और बुराइयों की मौजूदगी से ही शिक्षा मिलती है। जनता का अशिक्षित होना भी उसके स्वराज के विरुद्ध समुचित दलील नहीं होनी चाहिये। विशेषज्ञों की विशेषज्ञता के कारण दूसरों पर शासन करने का विशेषाधिकार लोकतन्त्रवादी नहीं मानते क्योंकि वे कहते हैं कि यह संभव है कि विशेषज्ञों का हित, स्वार्थ अथवा उद्देश जनता के स्वार्थ अथवा उद्देश से भिन्न हो। इसी तरह आम तौर पर श्रेष्ठ तथा उच्च योग्यता सम्पन्न व्यक्ति को भी शासन करने का विशेषाधिकार लोकतन्त्रवादियों की सम्मति में नहीं होना चाहिये। हाँ, विशेषज्ञों की सलाह ली जा सकती है।

लोकतन्त्रवादी कहते हैं कि पदारूढ़ व्यक्तियों पर कोई

अंकुश न रहे तो वे अपनी प्रभुता का दुरुपयोग करेंगे। उनकी राय में आदर्श शासक केवल कपोल कल्पित हैं। जीवन तथा संसार में वे प्राप्य नहीं। सद्भाव भी सत्य के दुरुपयोग को नहीं रोक सकते क्योंकि जिन लोगों में क़ानून बनाने की शक्ति होती है उन्हें उन क़ानूनों को मानना नहीं पड़ता।

इनके मत में, स्वाधीनता सर्वोच्च राजनैतिक मूल्य है। व्यक्तियों को स्वेच्छानुसार जीवन यापन करने तथा विचार रखने और उन्हें व्यक्त करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये। हवा और स्वास्थ्य की तरह स्वाधीनता की क़ीमत भी लोगों को उसके अभाव में ही मालूम होती है। कार्य-क्षमता के नाम पर स्वाधीनता को बलि चढ़ा देना लोकतन्त्रवादियों के मतानुसार उसी चीज़ को जलाञ्जलि दे देना है जो मनुष्यों में मनुष्यता स्थापित करती है। लोकतन्त्रीय शासन-पद्धति में सब लोगों को अपनी-अपनी शक्तियों का भरपूर विकास करने का पूरा-पूरा सुअवसर मिलना चाहिये तथा क़ानून की निगाह में सब को बराबर एकसा मानना चाहिये। लोकतन्त्रवाद यह मानता है कि मनुष्य तर्क-शील-विवेकयुक्त प्राणी है। वह विवेकवाद के सिद्धान्त को मानता है और व्यक्ति-वाद के इस सिद्धान्त को भी मानता है कि व्यक्ति स्वयं अपने में एक साध्य है वह दूसरे साध्यों का साधन मात्र नहीं है। लोकतन्त्रवादियों के मतानुसार जीव-विज्ञान व्यक्तियों की अधीनता के सिद्धान्त का समर्थन नहीं करता। वह सनातन आत्म त्याग अर्थात् पारस्परिक सहयोग-यज्ञ के लिये वैयक्तिक स्वतन्त्रताओं को स्वेच्छापूर्वक सीमित करने के सिद्धान्त

का समर्थन अवश्य करता है। लोकतन्त्रीय समाज में व्यक्ति को समाज की सेवा में अपने विकास का तथा पूर्ण मूल्य की अनुभूति का पूरा-पूरा मौक़ा मिलता है। लोकतन्त्रवादियों का सिद्धान्त है कि अच्छा शासन-स्वशासन का स्थान नहीं ले सकता। लोकतन्त्रीय शासन जनता के लिये स्वयं जनता द्वारा किया जाने वाला शासन, जनता का शासन है।

लिखित शासन-विधानों की माँग तथा प्रतिनिधि-सत्तात्मक शासन-प्रणाली की माँगें लोकतन्त्र की आधारभूत माँगें हैं। यूरूप की उन्नीसवीं सदी की राजनीति में राष्ट्रीयता के साथ-साथ वैधानिक लोकतन्त्र की लहर वहाँ के जन-सागर को आन्दोलित करतीं थीं। १८४८ में तो वहाँ राजनैतिक क्रान्तियों का तूफ़ान सा आ गया था। वैयक्तिक नागरिक अधिकारों की गारन्टी की माँग, व्यवस्थापक प्रतिनिधि संस्थाओं की माँग तथा कार्यकारी, व्यवस्थापक और न्यायकारी विभागों के प्रथक् करण की माँगें इस तूफ़ान की खास मांगें थीं, इन क्रान्तियों का परिणाम यह हुआ कि १८८० तक यूरुप में टर्की और रूस को छोड़कर वस्तुतः प्रत्येक देश में सुनिश्चित वैधानिक शासन-व्यवस्था का कुछ न कुछ ऐसा प्रबन्ध अवश्य हो गया जिसमें वहाँ की जनता के बहुत बड़े भागों को शासन-कार्य में हिस्सा लेने का हक़ मिला।

इन लोकतन्त्रीय विचारों का सब से अधिक विकास और प्रचार फ्रान्स में हुआ। फ्रांस के विचारक कुछ हद तक जर्मन आदर्शवादियों से प्रभावित हुए। तर्क के स्वाम्य योग्यतम प्रतिपादक विक्टर कार्जेन (१७९२–१८६७) था। उसका कहना था

कि स्वाम्य और पूर्णाधिकार पर्यायवाची हैं और अधिकार पशु-बल और सर्वजनेच्छा पर आधारित न होकर केवल पूर्ण विवेक पर ही अवलम्बित है। रॉयर कॉलार्ड और फ्राँसॉइस पी० गिजेन्ट के साथ काजॅन सिद्धान्त-वादी कहलाते थे। एलॅक्सिस डी टौके वाइले (१८०५-१८५६) के ग्रन्थों से लोकतन्त्रीय विचारों का यूरूप में बहुत प्रचार हुआ। मौण्टेस्की की तरह टौके वाइले का भी यही मत था कि जनता की सामाजिक संस्थायें उनकी सामाजिक अवस्था के तथा देशकालावस्था पर निर्भर रहती हैं। टौके वाइले का विश्वास था कि अन्त में प्राकृतिक विकास के परिणामस्वरूप लोकतन्त्र समस्त संसार में स्थापित तथा प्रचलित हो जायगा। आधुनिक फ्राँसीसी राजनैतिक विचार का सर्वोत्तम व्यक्तीकरण जे०-पी० ऐस्कीन (१८४८-१६१३) के ग्रन्थों में हुआ है। उसके मतानुसार राज राष्ट्र का क़ानूनी पुरुष है। भीतरी तथा बाहरी मामलों में वही स्वामी है परन्तु राज के लिए यह लाजिमी है कि वह व्यक्तियों, नागरिकों के अधिकारों की रक्षा तथा उनका आदर करे। कानूनी दृष्टि से राज ही सर्वोपरि है परन्तु व्यक्तियों की स्वाधीनता की रक्षा करना उसका नैतिक कर्त्तव्य है।

अमेरिका की लोकतन्त्रीय विचार-धारा जार्जटकर, जान टेलर, जूल वार्लो और विशेषकर थौमस जैफरसन के ग्रन्थों में प्रवाहित हुई है। थौमस जैफरसन ने अपने विचार विशेषत: सिडनी लौके और पेन से लिये। इनके विचारों को जैफरसन ने अमेरिकन देश-कालावस्था की भाषा में व्यक्त किया। जैफरसन मानवी समता, प्राकृतिक अधिकार, वैयक्तिक स्वाधीनता की रक्षा के लिए नागा-

जिक इकरारनामे द्वारा राज्य-स्थापना तथा शासन की दशा में क्रान्ति अथवा विद्रोह के अधिकार को स्वीकार तथा प्रतिपादित करता है। उसकी राय में जनता की स्वीकृति सदैव शासन का आधार होनी चाहिए। उसका कहना था कि राज के स्वास्थ्य के लिए कभी-कभी क्रान्ति का होना आवश्यक औषधि है। वह राज-तन्त्र का विरोधी था परन्तु बुद्धि तथा योग्यता की प्राकृतिक श्रेष्ठता को मानता था। शिक्षा और स्वायत्त स्थानीय स्वराज्य को वह प्रजातन्त्रीय संस्थाओं की मुख्य खूँटियाँ मानता था। वह लोकतन्त्र के अनधिकारीजन-समूहों के लिए लोकतन्त्र का पक्ष-पाती न था परन्तु उसका विश्वास था कि धीरे-धीरे सभी जन-समूह प्रजातन्त्रीय शासन के योग्य हो जायेंगे। वह सेना के मुकाविले में मुल्की शासन का तथा व्यापार और उद्योग-धन्धों के मुकाविले में खेती का पक्षपाती था। उसका विश्वास था कि शहरों की वढ़ती से भ्रष्टाचार वढ़ेगा और सफल लोकतन्त्र कठिन हो जायगा।

अमेरिका में जैक्सन के समय में लोकतन्त्रीय-शासन-पद्धति का विकास हुआ। राजनैतिक शक्ति जमीदार-वर्ग के हाथ से निकल कर सर्वसाधारण के हाथ में, उनकी वोटों के रूप में पहुँची। जिसके फलस्वरूप अमेरिका के पुराणखण्डी नेता यह कहने लगे कि "वादशाह भीड़" (King Mob) की विजय हुई है। इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप अमेरिका में जजों वगैर: का भी चुनाव होने लगा। परन्तु विचार जगत में सामाजिक इकरारनामे, प्राकृतिक अधिकार और मानवी समता के सिद्धान्तों का जोर

घटने लगा। लोग उन्हें सदोष समझ कर छोड़ने लगे। फ्राँसिस लीवर (१८००-१८७२) नामक जर्मन शरणागत ने प्राकृतिक अधिकार और सामाजिक इकरारनामे के सिद्धान्तों की अपने कई ग्रन्थों में तीव्र आलोचना की। कैसाऊन, टी० कूपरादि ने प्राकृतिक अधिकार और मानवी समानता के सिद्धान्तों का खण्डन किया।

लीवर ने अङ्गरेजी और फ्राँसीसी लोकतन्त्र में यह अन्तर बताया कि अङ्गरेजों की राय में लोकतन्त्र के माने हैं नागरिक स्वाधीनता अर्थात् सरकार हस्तक्षेप के क्षेत्र की हदबन्दी करके, उससे मुक्त क्षेत्र का विस्तार। फ्राँसीसियों की राय में लोकतन्त्र के माने थे राजनैतिक अधिकार अथवा शक्ति में सब लोगों का हिस्सा रखने का अधिकार अर्थात् राजनैतिक स्वाधीनता। डबल् डबलू विलोघवी ने (The nature of the state) नामक पुस्तक में सामाजिक इकरारनामे और प्राकृतिक अधिकार के सिद्धान्तों का खण्डन करके राज के पूर्ण और अविभाज्य स्वामित्व के सिद्धाँत का प्रतिपादन किया।

लोकतन्त्र के जिस सिद्धान्त का प्रवाह यूरुप के सर्वजनेच्छा सिद्धान्त से निसृत हुआ था, वह उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में साधारणतः प्रतिनिधिसत्तात्मक-प्रजातन्त्र के रूप में माना जाने लगा। प्रजा के सीधे शासन को लोग अपवादस्वरूप मानने लगे। उन्नीसवीं शताब्दी की आम प्रवृत्ति लोकतन्त्रीय शासन के विस्तार की थी। वह दासता–अर्द्ध दासतादि के उन्मूलन में, वोट के लिए धर्म अथवा सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यताओं के रद्द

किये जाने में, लिखित विधानों तथा प्रतिनिधि सत्तात्मक संस्थाओं की स्थापना, पैत्रिक राजतन्त्र के लोप, स्त्रियों के वोटाधिकार और कहीं-कहीं समस्त जनता को कानून बनाने के सम्बन्ध में या बनाये जाने अथवा बने हुये कानून के सम्बन्ध में अपनी राय जाहिर करने का सीधा अधिकार देने के रूप में प्रकट हुई। गे ब्राइस, सी० एफ० डोल०, ए० टी० लौवेल, एल० टी० हौब हाऊस, एच आदफ, डवलू वील, एफ० क्लीवलैण्ड, के० एच हिस्लोव ने आधुनिक लोकतन्त्र पर सुपाठ्य तथा विद्वतापूर्ण ग्रन्थ लिखे। पूँजीवादी लोकतन्त्रीय शासन-पद्धतियों में वकीलों, राजनैतिक धड़ेबाजों और कैरियर-खोजियों की बन आती है।

लोकतन्त्र का साधारणतः सर्वव्यापी सिद्धान्त यह है कि लोकतन्त्रीय शासन-प्रणाली में वोटरों के बहुमत का निर्णय मान्य होता है। यह दूसरी बात है कि वोट देने का अधिकार सब जगह समस्त बालिग स्त्री-पुरुषों को नहीं होता। और जहाँ ऐसा भी होता है वहाँ भी यह लाजिमी नहीं है कि शासन के सब मामलों में वोटरों की सम्मति ली जाती है। वोटरों के प्रतिनिधियों के अधिकार भी पूर्ण नहीं होते। कहीं स्त्रियों को वोटाधिकार से वर्जित करके, कहीं निरक्षरों तथा कहीं सम्पत्ति-हीनों को उससे बंचित करके प्रायः वोट का अधिकार सीमित कर दिया जाता है। जरायम पेशा लोगों, देश-द्रोहियों, विदेशियों तथा पागलादि को प्रायः सर्वत्र ही वोटराधिकार से वञ्चित रक्खा जाता है।

कहीं-कहीं बड़े-बड़े जमींदारों, पूँजीपतियों तथा दूसरे विशेष स्वार्थवालों के प्रतिनिधियों की दूसरी व्यवस्थापिका सभा बना कर जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों का, पार्लियामेन्ट के रास्ते में अड़चन और असुविधा उत्पन्न कर दी जाती है जैसे इगलेण्ड में हाऊस आफ लार्डस द्वारा तथा कहीं-कहीं रईसों तथा जमीदारों की इन सभाओं के अधिकार इससे भी अधिक व्यापक जनता की प्रतिनिधि सभाओं की शक्ति को पूर्ण तथा पंगु कर देने वाले होते हैं

सीधा लोकतन्त्र जिसमें समस्त वोटरों की राय हर एक कांनून ने बारे में ली जाती है कहीं भी नहीं है। हाँ, कुछ छोटे देशों में इन वोटरों को यह अधिकार है कि वे अपने प्रतिनिधियों को वापस बुला सकें। कानून विशेष पर अपनी राय प्रकट कर सकें इत्यादि। परन्तु अधिकतर देशों में जो कुछ अधिकार है वे जनता की चुनी हुई पार्लियामेन्टों को ही हैं। इङ्गलैण्ड तथा अमेरिका के पूँजीवादी लोकतन्त्र इसी प्रकार के प्रतिनिधि सत्तात्मक लोकतन्त्र हैं। सीधे लोकतन्त्र नहीं। इङ्गलैण्ड में जजों का चुनाव नहीं होता और वहाँ की नौकरशाही तो स्थायी और प्रतिनिधियों के प्रभाव से परे रहती है। सीधा लोकतन्त्र स्विटजरलेण्ड के चार कैबिनों में ही है। वहाँ के नागरिक अपने आप सभा में इकट्ठे होकर राज की नीति का निर्णय तथा शासन कार्य संचालन करते हैं। इसी सभा में वे सार्वजनिक अधिकारियों का चुनांव करते हैं तथा समय २ पर यह भी तय कर देते हैं कि इन अधिकारियों का कर्तव्य क्या होना चाहिए यद्यपि यह लोकतन्त्र भी पूर्ण लोकतन्त्र न होकर सीमित लोकतन्त्र है फिर भी लोकतंत्र

के विद्यमान रूपों में सर्वोच्च रूप है और स्विटजरलैंड को छोड़ कर और कहीं प्रचलित नहीं है।

सीधा लोकतंत्र छोटे देशों या शहरों में ही सम्भव तथा व्यवहार्य माना जाता है। विशाल तथा बहुसंख्यक आबादी वाले देशों में न तो वह सम्भव ही है, न व्यवहार्य ही इसलिये स्विटजरलैंड को छोड़कर शेष सभी लोकतंत्रीय देशों में सीधे लोकतंत्र के स्थान पर चुने हुए प्रतिनिधियों का अप्रत्यक्ष लोकतंत्र ही प्रचलित है। उदाहरणार्थ ब्रिटेन के साढ़े चार करोड़ लोगों के लिये कानून बनाने का अधिकार वहाँ के समस्त वोटरों को न होकर पार्लियामेन्ट के साढ़े छः सौ मेम्बरों को है।

लोकतंत्र के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह प्रजातंत्र हो, इंग्लैंड में राजतन्त्र होते हुए भी वह लोकतंत्रीय देश कहलाता है। इस दृष्टि से लोकतंत्र के माने केवल प्रतिनिधि तंत्र के होते हैं क्योंकि इंगलैंड में क़ानून बनाने, टैक्स लगाने वगैरः का अधिकार बादशाह के हाथ में न होकर वहाँ के चुने हुए प्रतिनिधियों-पार्लियामेन्ट के मेम्बरों को है। फ्रांस और अमेरिका में प्रजातंत्र तथा लोकतंत्र दोनों हैं। समस्त प्रतिनिधि-तंत्रीय देशों का शासन मंत्रि-मंडलों के जरिये होता है। देश व्यवस्थापिका सभा में जिस दल का बहुमत होता है उसका नेता मन्त्रिमण्डल बना कर राज-काज चलाता है। मन्त्रिमण्डल अपने कार्यों के लिये अपने देश की पार्लियामेंट अथवा व्यवस्थापिका सभा के बहुमत के सामने उत्तरदायी होता है। मन्त्रीगण आमतौर पर स्वयं जनता के चुने हुये प्रतिनिधि होते हैं। मन्त्रि-मण्डल अपने बजट अथवा खर्च,

टैक्स, क़ानून सम्बन्धी महत्वपूर्ण प्रस्तावों, मांगों या बिलों को अपनी पार्लियामेन्ट में पास नहीं करा पावें या हार जायँ तो उन्हें अपने पद से इस्तैफ़ा देना पड़ता है क्योंकि उस हालत में यह माना जाता है कि उनकी पार्लियामेन्ट में बहुमत उनके विरुद्ध है। पार्लियामेन्ट में उनके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव भी पेश किया जा सकता है और यदि वह पास हो जाय तो मन्त्रि-मण्डलों के लिए इस्तैफ़ा देना लाज़िमी हो जाता है। ऐसा होने पर कहीं-कहीं मन्त्रि-मण्डल पार्लियामेन्ट को भङ्ग भी कर सकते हैं जिससे यदि आम चुनाव में उन्हीं की पार्टी के मेम्बर अधिक संख्या में चुने जायँ तो वे फिर राज-काज चला सकें और यह कह सकें कि पार्लियामेन्ट का बहुमत देश की जनता का बहुमत नहीं था। जिन मेम्बरों ने हमारे विरुद्ध वोट दिया वे लोकमत को नहीं व्यक्त करते थे इसीलिये चुनाव हार गये।

यह पहिले ही बताया जा चुका है कि अमेरिका में मन्त्रि-मण्डल प्रेसीडेन्ट बनाता है और वे वहाँ की व्यवस्थापिका सभाओं के सामने उत्तरदायी न होकर प्रेसीडेन्ट के सामने उत्तर-दायी होते हैं। प्रेसीडेन्ट के अधिकार अपने मन्त्रिमण्डल के ऊपर बादशाहों के अधिकारों से भी अधिक होते हैं क्योंकि बादशाह अपना मन्त्रि-मण्डल नहीं बना सकता उसके लिये यह लाज़िमी है कि वह बहुमत के नेता से अपना मन्त्रि-मण्डल बनाने को कहें। यह मन्त्रि-मण्डल बादशाह के सामने उत्तरदायी नहीं पार्लियामेन्ट के सामने उत्तरदायी होता है जब कि अमेरिका का मन्त्रिमण्डल वहाँ की व्यवस्थापिका सभाओं के सामने उत्तर-

दायी न होकर केवल प्रेसीडेन्ट के सामने उत्तरदायी होता है। अपने कार्य-काल में अमेरिका के प्रेसीडेन्ट के अधिकार बादशाह के अधिकारों से अधिक होते हैं। प्रेसीडेन्ट को व्यवस्थापिका-सभा नहीं चुनती, सीधो चुनती है। प्रेसीडेन्ट और उसके मन्त्रि-मण्डल के सदस्यों के लिए व्यवस्थापिका-सभा का सदस्य होना भी आवश्यक नहीं है। अमेरिका के शासन-विधान में तो उनके लिए मेम्बर होने की मनाही है। उन्हें व्यवस्थापिका सभाओं में क़ानून बिल वग़ैरः पेश करने का भी अधिकार नहीं है।

Bolshavism, Fascism of the Labaral Democratic State

नामक पुस्तक में मौरिस पारमेली ने लिखा है कि प्रतिनिधि-सत्तात्मक देशों में पार्लियामेन्टरी-प्रणाली ने संसार के भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न स्वरूप ग्रहण किये हैं। ब्रिटेन में बादशाह और मन्त्रि-मण्डल के बीच में जो कुछ सम्बन्ध है वह प्रधान-मन्त्री के ज़रिये ही है। वहाँ अलिखित-विधान की परम्परानुसार बादशाह पार्लियामेन्ट के बहुमत वाले दल के नेता को ही प्रधान-मन्त्री नियुक्त करता है। फ्रांस में कौंसिल का प्रेसीडेन्ट पार्लिया-मेन्ट के बहुमत का प्रतिनिधि होता है। उसका तथा उसके मन्त्रियों का, मन्त्रि-मण्डलों का जीवन पूर्णतया फ्रांसीसी पार्लियामेन्ट के बहुमत पर निर्भर होता है। प्रजातन्त्र का सभा-पति, राज के प्रधान की हैसियत से कौंसिल के प्रेसीडेन्ट को बाक़ायदा उसके अधिकार-प्रदान की रस्म करता है। ब्रिटेन में द्वि-दल प्रणाली से वहाँ का मन्त्रि-मण्डल फ्रांस के मन्त्रि-मण्डल से अधिक स्थायी होता है। पार्लियामेन्ट भङ्ग करने को आव-

श्यकता तभी होती है जब विरोधी दल पदारूढ़-दल को निश्चित रूप से पार्लियामेन्ट में हरा दे। समस्त पार्लियामेन्टरी पद्धतियों में प्रतिनिधि तथा मन्त्रि-मण्डल बहुधा बदला करते हैं। राज-काज लगातार चलाते रहने का काम स्थायी नौकरशाही पर रहता है।

विगत महायुद्ध के बाद प्रत्येक दल को उसकी संख्या के हिसाब से प्रतिनिधित्व देने की प्रणाली ग्रहण करली गई है। अमेरिका में सभापती-शासन प्रधान है। संयुक्त प्रदेश अमेरिका की इस प्रणाली की नक़ल लेटिन समेरिकन देशों में भी की गई। सभापति का चुनाव कई साल के लिए होता है और उसके कार्यकारी अधिकार विस्तृत होते हैं। वही मन्त्रि-मण्डल नियुक्त करता है। पर मन्त्रि-मण्डल उसी के सामने जवाबदेह होता है। उसे क़ानूनों को रद्द करने का भी सीमित अधिकार है।

लोकतन्त्र के आलोचकों की संख्या उसके समर्थकों से कम नहीं है। न उनकी दलीलें ही निस्सार कही जा सकती हैं। उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक अवश्य लोकतन्त्र के योरुपीय आलोचकों की आलोचना का मुख्याधार बादशाहों का ईश्वर प्रदत्त अधिकार था परन्तु उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से उक्त अधिकार और लोकतन्त्र का भीड़-राज क्रान्ति तथा अराजकतादि में पतित होने की आलोचना के अतिरिक्त वे लोकतन्त्र की क्षमता-हीनता, अति अपव्ययता तथा उसकी "स्वयं प्रतिकूलता" पर ज़ोर देने लगे और कहने लगे कि लोकतन्त्र योग्यता को कुचल कर अपरिहार्य लोकमत के ज़ोर से समस्त व्यक्तियों को सामान्य

योग्यता की एक ही सतह पर ले आते हैं अर्थात् लोकतन्त्रों में अन्धेर नगरी अनबूझ राजा, टका सेर भाजी टका सेर खाजा वाली बात होती है। एक पाश्चात्य लेखक के शब्दों में लोकतन्त्र में शेरों और बैलों को एक ही लकड़ी से हाँका जाता है! लोक-तन्त्र के इन आलोचकों का कहना है कि उसमें जनता को बहका लेने वालों की बन आती है और पैसे वाले पूँजीपति ग़रीब लोक-तन्त्रीय कर्मचारियों को ख़रीद कर भ्रष्ट कर सकते हैं। बड़े-बड़े शहरों में लोकप्रिय शासन की कमियों को बहुत से विद्वान-निरीक्षकों ने विशेष रूप से देखा। बहुतों का कहना था कि लोक-तन्त्र से यह आवश्यक नहीं है कि वैयक्तिक-स्वाधीनता रहे ही जब कि वह ललित कलाओं और विज्ञानों की उन्नति का विरोधी है। आलोचकों का कहना है कि लोकप्रिय सरकारें क़ानूनों की भरमार कर देती हैं। वोटरों की फ़हरिस्तों, चुनाव-क्षेत्रों, चुनाव सम्बन्धी चालाकियों इत्यादि से भी प्रतिनिधि-सत्ता इतनी विकृत करदी जाती है कि वह लोकतन्त्र की वास्तविक प्रतिनिधि भी नहीं रह पाती। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों विशेषज्ञ की आवश्यकता भी अधिकाधिक होती गई और उनकी आवश्य-कता के नाम पर भी आलोचनाएँ की जाने लगीं।

अर्वाचीन लोकतन्त्र के आलोचनात्मक ग्रन्थों में एच मेन को Populer Govt, डबलू ई० एच लैवी की Democracy and Liberty, जेसकिन की Liberty Evreligs Fraternity ईकाल गौडविन की Problems, of Modern Democracy और unforeseen tendencies of Democracy, बीवारस्टो

द्वारा अनूदित ई० फौ जैट की The cult of Incompetence, ई० लार्वालेपी ए० एम० लुडोवीची की Defence of Aristocracy, डवलू एच लिली की First Principles of Politics, डवलू एच० मैलक की The limits of pure Democracy इत्यादि पुस्तकें प्रधान हैं।

अवलोकतन्त्र का विरोध आर्थिक क्षेत्र में सरकारी हस्तक्षेप के विस्तार के रूप में पूँजीपतियों द्वारा वैयक्तिक स्वाधीनता के नाम पर किया जाता है। राजनैतिक सिद्धान्तों में जव से मनोविज्ञान को लागू किया गया और लोकमत के स्वरूप के सम्वन्ध में तथा जिन प्रभावों से वह निर्मित होता है उसके सम्वन्ध में जो जानकारियाँ हुई हैं उनके आधार पर भी लोकतन्त्र-विरोधी प्रवाह को वल मिला है। सर्वसाधारण के आन्दोलनों में विवेकेतर–मनोविकारादि कारणों के महत्वपूर्ण भाग का अनुभव होने पर लोग लोकतन्त्रीय शासन के विरोध की धारा वेगवती हुई। पिछले महायुद्ध के वाद एक ओर कायापलटकारी क्रान्तियों और दूसरी ओर कट्टर पन्थियों की प्रतिक्रिया की वाढ़ सी आई। इटली, स्पेन, मध्ययूरुप के राजतन्त्रीय आन्दोलन पिछली प्रवृत्ति के परिणाम थे। दोनों के फलस्वरूप यूरुप में लोकतन्त्र के स्थान पर डिक्टेटर-शाही का जोर वढ़ गया।

स्वयं लोकतन्त्रवादी इस वात को मानते हैं कि उनका अपना कोई दर्शन नहीं। उन्हें स्वयं इस वात पर सन्देह होने लगा है कि कहीं योजनाओं का अर्थ शास्त्र और केन्द्रित उद्योग अर्थात् उत्पादन के साधनों का केन्द्रीकरण लोकतन्त्र के विरुद्ध तो नहीं है?

वे यह अनुभव करने लगे हैं कि लौके, रूसो, पेन के ग्रन्थों से ही लोकतन्त्र का काम नहीं चल सकेगा। अब लोकतन्त्र का मुख्य आधार यह है कि वह उद्देशों का प्रचार तथा ध्येय की पूर्ति बल प्रयोग के बदले समझा बुझाकर तथा डिक्टेटरशिप के बदले पार्लियामेन्ट की पद्धति से काम लेना चाहती है। लोकतन्त्र-वादियों का कहना है कि हम न तो इसी सिद्धान्त को मानते हैं कि जो कुछ हूँ वह मैं ही हूँ। मेरे सिवा दूसरे कुछ नहीं और न इसी को कि मैं कुछ भी नहीं जो कुछ हैं वह दूसरे ही हैं। हमारा सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक कुछ न कुछ है।

समस्त लोकतन्त्रवादी इस बात से सहमत हैं कि लोकतन्त्रीय शासन में राज समस्त व्यक्तियों के उद्देशों और हितों के अधीन रहना चाहिए। लोकतन्त्र अधिकतर उसके विरोधों से जाना जा सकता है। वह व्यक्ति की स्वाधीनता की रक्षा के लिए राज्य अधिकारों का विरोधी है। इसी उद्देश से वह फासिस्त-विरोधी, नात्सी-विरोधी और कम्यूनिस्त-विरोधी है। समाजवाद के सम्बन्ध में लोकतन्त्रवादियों में दो मत हैं। कुछ उसके समर्थक हैं क्योंकि वह आर्थिक समता के सिद्धान्त का प्रतिपादन तथा पूँजीवाद का नियन्त्रण करता है तथा कुछ उसके विरोधी क्योंकि समाजवाद व्यक्ति के जीवन पर राज के अधिकारों में अत्यधिक वृद्धि करता है।

लोकतन्त्र की एक बात यह है कि लोकतन्त्र कानून और व्यवस्था के बल पर ही चल सकता है। व्यक्ति की स्वाधीनता के साथ-साथ यह आवश्यक है कि व्यक्ति को यह मालूम रहे कि

उसके अधिकार क्या हैं तथा उनकी सीमायें कितनी हैं और उसे इस बात की भी गारन्टी रहे कि इन सीमाओं के भीतर उसकी स्वतन्त्रता में कोई भी बाधा न डाल सकेगा। यह निश्चिन्तता कानून और व्यवस्था से ही सम्भव हो सकती है।

परन्तु समाज में सदैव शान्ति सम्भव नहीं। उसमें यदा-कदा आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक तथा अधिदैविक सङ्कट आते ही रहते हैं। कभी आग लगती है। कभी बाढ़ आती है। कभी महा-मारियों का प्रकोप होता है तो कभी युद्धों और भूकम्पों का। ऐसे समयों पर शासनाधिकारों को बढ़ाना और वैयक्तिक स्वाधीनता को कम करना ही पड़ता है।

लोकतन्त्रवादियों के इस दावे को कि स्वाधीन तथा किसी सामान्य भाव से प्रेरित व्यक्ति डिक्टेटरशाहियों के जबरदस्ती भरती किये हुये व्यक्तियों से श्रेष्ठ सैनिक सिद्ध होते हैं। टौय विन्थी ग्राम नामक लेखक ने English Captain नामक पुस्तक में प्रकट किया है परन्तु मेजर जोसे मार्टिन ब्लासक्लेज ने I helped to build an Army नामक पुस्तक में स्पेनिश गृह-युद्ध में प्रजातन्त्र के रक्षकों के पारस्परिक झगड़ों और उनकी अनुशासनहीनता का वर्णन करके यह दिखाया है कि लोकतन्त्र के नाम पर इस प्रकार की स्वाधीनता उसकी रक्षा के काम के लिये घातक सिद्ध हो सकती है। "Union now" नामक पुस्तक में क्लेरेंस के स्ट्रीट नामक लेखक ने स्वतन्त्र लोकतन्त्रों में संयुक्त प्रदेश अमेरिका, ब्रिटेन, फिनलैण्ड, फ्रांस, हालैण्ड, वेल्जियम, स्विटज़रलैण्ड, डैनमार्क, नारवे, स्वीडन, कनाडा, आस्ट्रेलिया,

न्यूजीलैण्ड, दक्षिण अफ्रीका की यूनियन और आयर्लैण्ड ये पन्द्रह नाम गिनाये हैं।

इनमें से ब्रिटेन और उसके चारों उपनिवेश लोकतन्त्रीय न होकर राजतन्त्रीय हैं। निस्सन्देह ब्रिटेन का बादशाह मिनिस्टरों की सलाह पर ही काम करता है। परन्तु राजनीति के सूक्ष्मदर्शी पण्डित यह जानते हैं कि बादशाह का दरबार ऐसे सामाजिक और शासन-सम्बन्धी प्रभावों का केन्द्र है जो पूर्णतया अलोक-तन्त्रीय हैं। अगर नात्सी हेल हिटलर ध्वनि सुनते ही अकड़ कर खड़े हो जाते हैं तो ब्रिटिश साम्राज्य के सब अङ्गों के लोग भी, "गौड सेव दी किङ्ग" की आवाज कान में सुनते ही जिस भक्ति-भाव से अकड़ कर "सावधान" की शकल में खड़े होते हैं। वह किसी भी आदिम आदमी की दण्डवत् साष्टाङ्ग प्रणाम से कम श्रद्धा पूर्ण नहीं है। वह भी उतना ही पूजा का कार्य है जितना हेल हिटलर।

इसके अतिरिक्त ब्रिटिश साम्राज्य के इन अङ्गों में शासन अब जनता के हाथों में कदापि नहीं। १९३० के बाद ब्रिटेन में निश्चित रूप से प्रतिक्रियावादी क्रान्ति हुई है। यह सम्मति एच० जी० वैल्स जैसे अक्रान्तिकारी अङ्गरेज पण्डित ने The Fate of Home Sopions नामक पुस्तक के तिह-त्तरवें-चौहत्तरवें पृष्ठों में प्रकट की है। उनका कहना है कि ब्रिटेन में राज-दरबार, चर्च, सेना और पूँजी की शिथिल चौमुखी शृङ्ख-लायें शासन की बागडोर हैं। वे अत्यन्त स्वार्थ सम्पन्न है। युद्ध या शान्ति सम्बन्धी फैसले मनमाने तौर पर कर लिये जाते हैं।

और समस्त पूँजीवादी प्रेस, सिनेमा-गृहों तथा रेडियो आदि प्रचार-साधनों द्वारा लोकमत को उस फैसले को सही मानने के लिये विवश कर दिया जाता है। अखबार वालों के पास "डी" फार्म पर जो हिदायतें भेजी जाती हैं उनका उल्लंघन करना उनके लिये बेवकूफी की बात साबित होती है। सितम्बर १६३८ से मिस्टर चेंम्बरलेन के काम उतने ही उत्तरदायित्व हीन, धूर्ततापूर्ण और लज्जाजनक हुए जितने किसी भी डिक्टेटर के। हाँ, चैम्बरलेन की डिक्टेटरशिप "टैक्ट" की डिक्टेटरशिप थी, बलपूर्वक हथियाई हुई डिक्टेटरशिप नहीं।

भारतवासियों को ब्रिटेन और उनके उपनिवेशों के लोकतन्त्र के सच्चे स्वरूप को जानने के लिये किसी एच० जी० वैल्स की गवाही की आवश्यकता नहीं है। यहाँ का हर समझदार व्यक्ति यह जानता है कि ब्रिटिश साम्राज्यशाही और भारतीय नौकरशाही संसार की किसी भी तानाशाही-फिर चाहे वह हिटलरशाही हो, या स्तालिनशाही, से कम बुरी नहीं।

फ्राँस का लोकतन्त्र प्रतिक्रियावादी पत्तों के हाथ में और उसकी वैदेशिक नीति कूटनीतिज्ञों तथा सैनिक अधिकारियों और कुछ धनी परिवारों के हाथ में रहता है। उसके स्वरूप की झाँकी उस समय मिली थी जब पराधीन और पददलित फ्रांस की स्वतन्त्रता के संरक्षक डी गौले इत्यादि ने सन् १६४२ की सरदी में सीरिया में अपना स्वराज्य चाहने वाली निरीह प्रजा को गोलियों का शिकार बनाया था। अमेरिका के लोकतन्त्र की वास्तविकता जाननी हो तो अप्टन सिनक्लेयर के "आइल;" 'जंगल" आदि

ग्रन्थ पढ़ लीजिए। वहाँ मजदूरों के अग्रनेताओं के विरुद्ध झूठे मुकद्दमे जिस कामयाबी के साथ चलाये जाते हैं, तथा दक्षिणी रियासतों में हबशियों को अमेरिकनों की भीड़ किसी भी गोरी औरत की शिकायत पर जिस प्रकार जिन्दा जला देती है उसी से जानी जा सकती है। फिर भी अमेरिका में कुछ गनीमत है और विचार-जगत में वह लोकतन्त्र की दम निस्सन्देह भरता है।

रही अटलान्टिक के तथा स्कैन्डीनीयन, छोटे-छोटे देश उनमें लोकतन्त्र की मात्रा तथा उसका स्वरूप औरों से अच्छा है परन्तु यह देश बहुत छोटे देश हैं और संसार की राजनीति पर इनका कोई प्रभाव नहीं। ब्रिटेन तथा अमेरिका का लोकतन्त्र स्पष्ट और निर्विवाद, पूँजीवादी तथा साम्राज्यवादी लोकतन्त्र हैं। बल्कि सही बात तो यह है कि इटली और जर्मनी में पूंजीवादियों पर अमेरिका तथा ब्रिटेन से अधिक नियन्त्रण है। लिखने के समय १६४४ तक यह भी स्पष्ट दीख रहा है कि वर्तमान द्वितीय विस्व-व्यापी महायुद्ध भी लोकतन्त्र और स्वतन्त्रता का युद्ध न होकर राज-सीमाओं की रक्षा और उसके विस्तार का युद्ध, साम्राज्य-वादी शक्तियों का ग्रह-युद्ध है।

अर्वाचीन लोकतन्त्र १८ वीं सदी की फ्रान्सीसी राज्यक्रान्ति तथा अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी की औद्योगिक क्रान्ति अर्थात् पूँजीवाद की सृष्टि है। फ्राँस की राज्य-क्रान्ति ने, समता, स्वाधीनता, और सहभ्रातृता का सन्देश दिया। औद्योगिक क्रान्ति और प्रारम्भिक पूँजीवाद के वैयक्तिक उद्योगों तथा व्यवसायों को, सामन्तों या एकछत्र राजतन्त्रों के नियन्त्रणों से मुक्त करके

प्रोत्साहित करने के लिए राजनैतिक लोकतन्त्र की आवश्यकता पड़ी। फलतः जिन पश्चिमी देशों में ये कारण प्रबल थे वहाँ लोकतन्त्रीय क्रान्ति ने मध्यवर्गीया या बुरजओई श्रेणी के लोगों का राजनैतिक-लोकतन्त्र अर्थात् पूँजीवादी लोकतन्त्र स्थापित हो गया। इस लोकतन्त्र का आर्थिक सङ्गठन पूँजीवादी है और राजनैतिक सङ्गठन पार्टीबन्दी और पार्लियामेन्टरी प्रणाली पर निर्भर है। इसमें जनता द्वारा प्रतिनिधियों के चुनाव की प्रथा और नीति-निर्माणों तथा क़ानून बनाने में व्यवस्थापिका सभाओं की तथा न्यायालयों की स्वतन्त्रता शामिल है। लोकतन्त्र सामन्तशाही, एकछत्रशाही और धर्मशाही के विरुद्ध, जन-शासन तथा मुल्की-शासन के सिद्धान्तों पर आधारित है।

लोकतन्त्र मानव-समाज की आर्थिक समस्याओं को, सम्पत्ति के सूक्ष्म उत्पादन, सम्यक् वितरण, और सदुपयोग की समस्याओं को हल करने में सर्वथा असमर्थ सिद्ध रहा। इसी के फलस्वरूप विगत महायुद्ध (१९१४-१९१८) से तथा उससे बाद रूस, इटली, जर्मनी आदि योरुपीय देशों में डिक्टेटरशाहियाँ क़ायम हुईं और ब्रिटेन में भी प्रतिक्रिया की लहर प्रबल हुई। टर्की नाम के लिए प्रजातन्त्रीय वस्तुतः डिक्टेटरशाही के अधीन था। जर्मनों के कब्ज़े में आने से पहिले युगोस्लोविया, आस्ट्रिया और अल्बेनिया में भी डिक्टेटरशिप थी। सन् १९२६ से पुर्त्तगाल में डिक्टेटरशिप थी। स्पेन में तो कोरी डिक्टेटरशाही है ही। पोलैण्ड, हँगरी, रूमानिया, लटाविया, बलगेरिया इत्यादि में भी वस्तुतः डिक्टेटरशिप थी।

जैकोस्लोवाकिया, हौलैण्ड, बेल्जियम और स्विटजरलैण्ड में आर्थिक तथा कुछ अन्य अधिकार भी जो पहले व्यवस्थापिका सभाओं के ही थे उन्हें कार्यकारिणी को सौंपने की प्रवृत्ति प्रबल हुई है। लेकिन अमेरिका में पार्लियामेन्टरी पद्धति कभी जम ही नहीं सकी। वहाँ अधिकतर सैनिक और मुल्की डिक्टेटरशाहियों का दौर दौरा रहा। सन् १६३० के बाद अमेरिका का रुख भी प्रेसीडेन्ट के अधिकारों को बढ़ाने की ओर है। रूजवेल्ट ने "न्यूडील" इत्यादि में कुछ कम डिक्टेटरशाही से काम नहीं लिया है।

द्वितीय विश्व-व्यापी महायुद्ध पूर्व तथा पश्चिम की पूँजीवादी लोकतन्त्रीय शक्तियों, फासिस्तवादियों तथा मार्क्सवादियों, सांसारिक सुख सम्पत्ति को, पशु-बल को, भौतिकवाद को ही सब कुछ समझने वाली, न्यूनाधिक विस्तार-प्रधान, पश्चिमी मनोवृत्ति का और साम्राज्यवादियों के पारस्परिक संघर्षों का युद्ध है।

लोकतन्त्र में वैयक्तिक स्वाधीनता, लिखने-बोलने, सभाएँ करने आदि की नागरिक स्वाधीनता भी दिन प्रति दिन संकुचित होती जाती है। लोकतन्त्रीय सरकारें जनता को यह स्वाधीनता नहीं देतीं कि वे पुलिसवालों और सरकारी हुक्कामों तथा अह-लकारों में यह प्रचार करें कि आप लोग जनता के नौकर हैं सरकार के नहीं। अतः आपको सरकार की उन अनुचित आज्ञाओं को मानने से इन्कार कर देना चाहिए जो लोकहित तथा जनता के आचरण के विरुद्ध हों। न वे जनता को इसी बात की स्वा-

धीनता देती हैं कि उसकी सेवा में युद्ध के दुष्परिणामों का तथा युद्ध में शामिल होने से इनकार करने का प्रचार किया जा सके। इङ्गलैण्ड में तो पिछले दिनों से राजनैतिक पार्टियों को पहिनने को, सरकार के प्रति अभक्ति फैलाने की, स्वच्छन्दता-पूर्वक हड़तालें करने आदि की मनाही तथा आपत्तिकाल में सरकार को विशेषाधिकार देने वाले क़ानून पास किये गये।

लोकतन्त्र के आलोचकों की एक दलील यह भी है कि वोटर यह नहीं जानते कि वे क्या चाहते हैं, केवल उतना जानते हैं कि उन्हें क्या नहीं चाहिए। साथ ही उनमें इतनी बुद्धि, इतना ज्ञान तथा इतनी योग्यता नहीं है कि वे अर्वाचीन जटिल आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक समस्याओं को हल करने के लिए समुचित योजना बना सकें या इस प्रकार की योजनाओं में से बुद्धिमानी पूर्वक चुनाव कर सकें।

फ़ासिस्तवादियों का कहना है कि लोकतन्त्रीय शासन-पद्धति अथवा पूँजीवादी राजनैतिक लोकतन्त्र आर्थिक विषमता को दूर करने में, वर्ग संघर्षों को तथा पूँजीपतियों द्वारा जनता के शोषण को रोकने में सर्वथा असमर्थ सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त वह राष्ट्र की दलबन्दी बढ़ा कर उसकी संकल्प-शक्ति को नष्ट कर देता है। एक विद्वान ने पार्लियामेन्टरी-पद्धति की धीमी गति की आलोचना करते हुये तर्कों तथा प्रमाणों से यह सिद्ध किया है कि यदि ब्रिटिश पार्लियामेन्ट में समाजवादियों का बहुमत हो जाय और वह पचास-सौ बरस तक क़ायम रहे तब भी पार्लियामेन्ट के ज़रिये वे सब क़ानून पास कराने में जिनसे

समाजवादी व्यवस्था क़ायम हो सके, कम से कम पचास बरस लगेंगे।

लोकतन्त्र के आलोचकों के एक दल का कहना है कि पार्लियामेन्टरी-पद्धति को जो कुछ सफलता मिली भी वह उस मन्त्रि-मण्डल की प्रणाली की बदौलत जिसकी उत्पत्ति और कार्य प्रणाली, लोकतन्त्र-विरोधी अर्थात् कूटनैतिक चालों पर निर्भर है। लोकतन्त्र-वणिक-वर्ग का आदर्श, क़सबे वालों का दृष्टिकोण है। भूमि अर्थात् गाँव के प्राचीन-बन्धनों से मुक्त होने की उनकी आकांक्षा ही स्वाधीनता की मांग के रूप में प्रकट हुई। अन्त में, लोकतन्त्र रुपये का, पूँजीपतियों का गुलाम हो जाता है। जनता के अधिकार और जनता का प्रभाव दो प्रथक्-प्रथक् बातें हैं। यहाँ तक कि संसार भर को लोकतन्त्रीय-शासन-पद्धति का इतिहास यह बताता है कि मताधिकार जितना ही अधिक विस्तृत और सर्वव्यापी होता जाता है उतनी ही अधिक शक्ति कम होती जाती है जिससे कि वोटर चुनावों के प्रति अपने मताधिकार के प्रति उदासीन हो जाते हैं। नागरिक-स्वाधीनता केवल नकारात्मक होती है। वह परम्परा के प्रभाव को तो दूर कर देती है परन्तु उसमें हुक्कामों के अख्तियारों में तनिक भी कमी नहीं होती। आजकल के लोकतन्त्रीय-पूँजीवादी लोकतन्त्रीय देशों में ब्रिटेन और अमेरिका में अखबार पूँजीपतियों के हाथ की कठपुतली हैं। वे पूँजीपतियों के विरुद्ध कुछ भी छापने को तैयार नहीं हैं। इसके बदले रात दिन प्रचण्ड पूँजीवादी प्रचार करते रहते हैं। अपनी आलोचनाओं द्वारा उन्होंने पुस्तकों के प्रभाव

को भी नष्ट प्रायः कर दिया है। उनके पास सबसे बड़ा साधन पूँजीवाद-विरोधी जन सेवकों और जनान्दोलनों की खबरों का वायकाट करने का, उन्हें न छापने का हथियार सब से अधिक भयंकर हथियार है। अपनी इस शक्ति का पूर्ण दुरुपयोग करके वे जन-मन को पूँजीवादी प्रचार से पतित करते रहते हैं। पूँजी-पतियों के विज्ञापनों और उनकी पूँजी की बदौलत सस्ते, अधिक साधन सम्पन्न, तथा सचित्रादि गुणों से युक्त पत्र निकाल कर वे स्वतन्त्र पत्रों के अस्तित्व को नष्ट कर देते हैं। इसी दृष्टि से एक विद्वान ने यह कहा है कि आज के मानव को समाचार-पत्रों की स्वाधीनता की आवश्यकता नहीं, समाचार-पत्रों से स्वाधीनता की आवश्यकता है।

पहले मनुष्य को स्वतन्त्रता-पूर्वक सोचने का साहस न अधिकार नहीं था; अब वह स्वतन्त्रतापूर्वक सोचने का साहस करता है पर सोच नहीं सकता क्योंकि रेडियो, सिनेमा, समाचार-पत्र, विश्वविद्यालय आदि अनेक साधनों द्वारा उसके सामने जो प्रचार-पूर्ण सामिग्री निरन्तर उपस्थित की जाती है उसका वह शिकार हुये विना नहीं रह सकता। शेक्सपियर के शब्दों में लोकतन्त्र में हमें ग्रन्थों से बचने के लिए स्वतन्त्रता की धींगाधींगी का शिकार होना पड़ता है।

पूँजीपतियों के पन्जे में फँसकर लोकतन्त्र स्वयं अपने हाथों, अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारकर आत्म-घात कर लेता है। पार्लिया-मेन्टों का इतिहास—विशेपकर अमेरिकन पार्लियामेन्ट का इति-हास इस बात का साक्षी है कि बहुमत को रिश्वत के जरिये

प्रभावित किया जा सकता है । पार्लियामेन्टों में बहुधा ऐसे क़ानून पास हो जाते हैं जो बहुसंख्यक जनता के लिए हानिकर होते हैं। हाँ, उनसे थोड़े से लोगों की स्वार्थ-सिद्धि अवश्य हो जाती है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण, संयुक्त प्रान्तीय लेजिस्लेटिव कौंसिल के क़र्ज़ सम्बन्धी वे क़ानून हैं जो १६३२-३३ में ज़मीदारों के मन्त्रि-मण्डल द्वारा किसानों और साहूकारों के हितों की अवहेलना करके केवल अपने कुछ हज़ारों की संख्या वाले वर्ग के स्वार्थ मात्र के लिए बनाये गये।

बर्ट्रांण्डरशल जैसे लोकतन्त्र के पक्षपाती विद्वान लेखक ने अपनी "शक्ति" नामक पुस्तक में यह लिखा है कि लोकतन्त्र के कारण औसत नागरिक को यह धोका देना आसान हो जाता है कि मौजूदा सरकार खुद उनकी है अतः उन्हें अन्धे होकर उसकी बातें माननी चाहिए, तथा उसका पक्ष समर्थन करना चाहिए। उनके मतानुसार लोकतन्त्रीय देशों में आर्थिक संगठन राजनैतिक शासन-पद्धति से भी अधिक महत्वपूर्ण होता है। मिल-मालिक तथा बड़े-बड़े कारखाने वाले, बैंकों व साहूकार तथा कम्पनियों के मालिक बिना कानून के शिकंजे में आये खुल्लमखुल्ला अस-क्षित करके उनसे मन मुताबिक काम करा सकते हैं, उन्हें अपना गुलाम बना सकते हैं। विशेषज्ञान और तुरन्त निर्णयों की आव-श्यकता लोकतन्त्र की शक्ति को बहुत ही सीमित कर देते हैं। पार्लियामेन्टों के फ़ैसले अनेक बातों में राष्ट्र अथवा जनता के बहुमत के फैसलों के विरुद्ध हो सकते हैं। उक्त पुस्तक के दो सौ नवे पृष्ठ पर उन्होंने अपनी यह सम्मति प्रकट की है कि निकट-

भविष्य में इस बात की कोई आशा नहीं कि लोकतन्त्रवाद अपनी जिस प्रतिष्ठा को खो चुका है उसको पुनः प्राप्त कर लेगा।

एक मसखरे का कहना है कि लोकतन्त्रीय प्रणाली वह इन्द्र-जाल है जिसकी बदौलत चतुर लोग अपने मन की बात दूसरों के बहुमत के-नाम पर करते हैं। फासिस्तवादी और समाजवादी दोनों ही पूँजीवादी लोकतन्त्र के घोर विरोधी हैं। कम्यूनिस्त लोकतन्त्रीय शासन-प्रणाली को न केवल बेकार ही समझते हैं बल्कि उसे सर्व साधारण के लिए हानिकर समझते हैं। उनका कहना है कि लोकतन्त्रीय अथवा पार्लियामेन्टरी शासन-यन्त्र जनता के शोषण का यन्त्र होता है। इससे पूजीवादी स्वच्छन्दता-पूर्वक जनता का शोषण करते रहते हैं और जब किसान-मजदूर-छोटे दुकानदारादि सभी प्रकार सर्व साधारण इस शोषण से आजिज़ आकर उससे मुक्त होने का प्रयत्न करते हैं, किसी प्रकार का विद्रोह अथवा राजनैतिक, सामाजिक क्रान्ति की तैयारी तो दूर, अपने हाल के अधिकारों की रक्षा के लिए कारगर प्रदर्शन अथवा हड़तालादि भी करते हैं तो शासन की समस्त शक्ति का कानून, पुलिस, अदालत और जेल का उपयोग जनता का दमन करके पूँजीपतियों के शोषण तथा उनके स्वार्थों की रक्षार्थ किया जाता है।

उनका यह भी कहना है कि यदि कभी पार्लियामेन्ट में जनता के प्रतिनिधियों का बहुमत हो भी जाय और वह बहुमत शोषण को बन्द करने वाले कानून, उत्पादन के साधनों के राष्ट्रीयकरण के कानून पास करेगा तो पूँजीवादी वर्ग बहुमत के निर्णय को

मानने के बदले सशस्त्र-विद्रोह करेगा जैसा कि फ्रान्को के नेतृत्व में स्पेन में फिलहाल कामयाबी के साथ किया गया।

फ़ासिस्त लोकतन्त्रीय पद्धति को नपुंसक, राष्ट्रीय एकता तथा संकल्प-शक्ति का विघातक, वणिक-वर्ग का यन्त्र तथा सम्पत्ति का पुजारी और निकृष्ट स्वार्थ-सुख-वाद का उपासक बताता है।

समाजवाद और मार्क्सवाद

साम्यवाद अथवा समाज-वाद अत्यन्त व्यापक शब्द हैं। उसमें पचासों मत-मतान्तर हैं। इनमें से ये मुख्य हैं:—(१) रौबर्ट ओवेन और सेन्ट साइमन का कल्पना विहारी साम्यवाद, शमोलर और विस्मार्क का राज-समाजवाद; किंग्स्ले और मौरिस का ईसाई साम्यवाद, मार्क्स और ऐंजिल्स का वैज्ञानिक समाजवाद, वर्नार्ड शौ और सिडनी वैब का फैवियन समाजवाद, वर्नस्टीन का पुनरावर्तनवाद, कोल और हौब्सन का श्रेणी या संघ समाजवाद, लैनिन और ट्राटस्की का वोल्शेविज्म। एच०जी० वैल्स, रामसे मैकडौनैल्ड, कौट्स्की, विलियम मौरिस और अनातोले फ्राँस के साम्यवाद अलग हैं। ये सब भेद ऐसे हैं जिनका या तो विचार-जगत् में समुचित आदर और प्रभाव है अथवा जिनकी अपने-अपने देश की व्यावहारिक राजनीति में काफी शक्ति है। मार्क्सवाद और लैनिनवाद का अन्तर सिद्धान्त और प्रयोग का अन्तर है। लैनिन ने न केवल मार्क्स के सिद्धान्तों को अपने समय तक बढ़े हुए ज्ञान के आधार पर परिवर्द्धित ही किया परन्तु उसके सफल प्रयोग के सिलसिले में भी उसमें जो-जो संशोधन करने पड़े वे स्वतन्त्रतापूर्वक किये। साम्राज्य-वाद के स्वरूप और विस्तार तथा सर्वहाराओं की डिक्टेटरशाही के सिद्धान्तों को लैनिन की दैन माना जाय तो अनुचित न होगा।

साम्यवाद अथवा समाजवाद की भावना नई नहीं, वह बहुत पुरानी है इतनी पुरानी कि उसकी उत्पत्ति विकसित मानव-समाज की उत्पत्ति के साथ मानी जा सकती है। मानव-समाज में हजारों वरस से जिन लोगों के हाथ में राजनैतिक और औद्योगिक शक्ति रही है वे अपने-अपने देश अथवा राष्ट्र में उस शक्ति का इस्तैमाल अपने स्वार्थ-सुख की सिद्धि तथा गरीबों पर जुल्म करने के लिए करते रहे हैं। हजारों वरस से संसार के बहुसंख्यक सर्व-साधारण अभाव और गरीबी के शिकार रहे हैं, जब कि थोड़े से लोग मनमाने भोग-विलासों में डूबे रहे। हजारों वरस से थोड़े से लोगों ने जब चाहा तब युद्ध छेड़ दिया है और बहु-संख्यक लोगों को उसमें लड़कर अपने प्राणों से हाथ धोने के लिए विवश होना पड़ा है। हजारों वरस से संसार की यही रीति रही कि थोड़े से लोग बहुसंख्यक सर्व साधारण को यह बताते रहे कि तुम्हें क्या सोचना चाहिए और किन बातों पर विचार करना चाहिए। वर्त्तमान काल से, कुछ काल पहले तक, बहुसंख्यक लोग कभी-कभी के विद्रोहों को छोड़कर साधारणतः चुप-चाप सब कष्ट भोगते हुए थोड़े से लोगों की आज्ञाओं का पालन करते रहे हैं।

हजारों वरस से ही संसार के दूरदर्शी विद्वान और विचारक सामाजिक व्यवस्था के इस अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध अपनी आवाज उठाते रहे हैं। इनमें से कुछ सर्व साधारण श्रेणी में से आये और कुछ विशिष्ट श्रेणियों में से। संसार को साम्यवाद का सन्देश देने का श्रेय इन्हीं स्वप्न-द्रष्टाओं को है।

इनमें से कुछ विचारकों ने शासक-वर्ग से यह अपील की कि वे अपने पापों का प्रायश्चित करें; तप और त्याग का जीवन व्यतीत करें, कुछ ने सर्वसाधारण से अपील की कि वे अपना सङ्गठन कर के इस भ्रष्ट-व्यवस्था को पलट दें।

पाश्चात्य जगत् के इन विचारकों में से कुछ तो नैतिक और कुछ धार्मिक स्वप्न-द्रष्टा थे। इनके विचार लोकतंत्रीय न होकर लोक-तन्त्र से बहुत दूर थे न उन्होंने अपने समय के या बाद के वास्तविक, आर्थिक, और सामाजिक सङ्गठन पर ही कुछ ध्यान दिया। इनमें सब से पहले टैकोआ के गड़रिये आमुरस ने ईसा से आठ सौ बरस पहिले तत्कालीन अल्पसंख्यक शासक वर्ग के भ्रष्टाचार, उद्दण्ड विलासी जीवन तथा भूखे और दासता में पड़े हुए बहुसंख्यकों पर इनके अत्याचारों की कड़ी निन्दा की। इसके पच्चीस बरस बाद हौलैस नामक विचारक ने सर्व-साधारण के पक्ष में अपनी आवाज उठाई। बारह सौ पाँच में ईशियाह (Issiab) ने यह उपदेश दिया कि राष्ट्रों को चाहिए कि वे अपनी तलवारों के हल और बरछियों के हसिये बना डालें।

ईसा से तीन-चार सौ बरस पहिले अफलातूं ने अपने "प्रजा-तंत्र" में यह विचार प्रकट किया कि धन से आलस्य और विला-सिता की उत्पत्ति होती है। उसने दार्शनिक साम्यवादियों की डिक्टेटरशिप का, श्रेष्ठ पुरुष के साम्यवाद का समर्थन किया और कहा कि इन साम्यवादी ज्ञानी शासकों की सम्पत्ति ही नहीं उनकी पत्नियां भी इन सब की सम्पत्ति होनी चाहिए।

अफलातूँ के बाद उन्नीस सौ बरस तक सैन्ट औगस्टाइन ने धार्मिक कल्पना विहारी साम्यवाद का प्रचार किया। गरीब पुजारी वगैरः इन विचारों को अपनाते रहे। विशेषकर जॉन विकलिफ ने वैयक्तिक सम्पत्ति और मुल्की कानून का विरोध करते हुये "राजतन्त्रीय-साम्यवाद" का प्रतिपादन किया। इसका अनुयायी जॉन बॉल कम्यूनिस्ट और विद्रोही था। वह फाँसी पर लटकाया गया। कवि, दार्शनिक, धार्मिक विषयों पर लिखने वाले तथा आन्दोलनकारी अर्थिक समानता और सम्पत्ति पर सब के स्वामित्व के सिद्धान्तों का प्रचार करते रहे। इनकी सम्मति थी समाज की साम्यवादी अवस्था ही न्याययुक्त और प्राकृतिक अवस्था है।

चर्च के पादड़ी और अध्यापकगण साम्यवाद को इसलिए पसन्द करते रहे क्योंकि वे यह समझते थे कि साम्यवाद वास्तव में सदाचार या आध्यात्मिक सिद्धान्तों का समाज में सफल प्रयोग मात्र है।

सन् १४७८ में सर थौमस मोर का जन्म हुआ। वे १५८५ तक जीवित रहे। उन्होंने वैयक्तिक सम्पत्ति का विरोध किया तथा कहा कि प्रत्येक व्यक्ति से दिन भर में केवल छः घन्टे काम लिया जाना चाहिए। प्रत्येक को आठ घन्टे विश्राम के लिये मिलने चाहिए। इनके स्वप्न-जगत का उद्देश अधिकांश लोगों का अधिक सुख था। ये चाहते थे कि समाज-सेवी लोगों को उनके सामाजिक सम्मान के रूप में उनका समुचित पारितोषिक मिलना चाहिए।

इसी लम्बे काल के बीच में किसान अपने अत्याचार पीड़ित जीवन से तङ्ग आकर विद्रोह करते रहे। इङ्गलैण्ड के किसानों ने सन् १३८१ में विद्रोह किया ही था, सन् १५४६ में दूसरा विद्रोह किया जो नाकामयाब रहा। इङ्गलैण्ड में इस समय तक साम्यवादी आन्दोलन ठण्डा पड़ चुका था। उसकी जगह गरीबों की सहायता सम्बन्धी कानूनों अथवा ऐसे ही दूसरे कानूनों के बनवाने के आन्दोलन ने लेली थी।

वैकन ने विज्ञान के प्रयोग द्वारा राष्ट्र की सम्पत्ति बढ़ा कर सब लोगों की सुख-समृद्धि बढ़ाने का सुख-स्वप्न देखा तथा ज्ञानियों के साम्यवाद का प्रतिपादन किया। इसी काल में जर्मन लेखक एन्ड्रोस ने "क्रिस्टैनोपोलिस" नामक पुस्तक में और एक इटालियन लेखक ने "सूर्य का शहर" नामक पुस्तक में साम्यवादी विचार प्रकट किये।

सत्रहवीं सदी में इङ्गलैण्ड में थौमसहौब्स ने यह मत प्रकट किया कि जब मनुष्य अपनी प्राकृतिक अवस्था में रहते थे तब उनके समाज का स्वरूप साम्यवादी था। इसी समय विन्स्टैनली ने इङ्गलैण्ड में कल्पना विहारी साम्यवाद का प्रचार किया। पीटर चैम्बर लैन ने कहा कि समस्त सम्पत्ति का राष्ट्रीकरण होना चाहिए। सम्पत्ति हीन श्रमजीवी ही राष्ट्र की सम्पत्ति और शक्ति हैं।

फ्राँस के कल्पना विहारी समाजवादी उस फ्राँसीसी राज्य-क्रान्ति की उपज थे जिसने सामाजिक सङ्गठन में कोई परिवर्तन नहीं किया। यहाँ वेबिमोफ ने अठारहवीं सदी में इस साम्यवादी

विचार का प्रचार किया कि समाज का उद्देश सब का सुख है और सुख समता के विना सम्भव नहीं। इनको भी फाँसी के तख्ते पर चढ़ना पड़ा। कैबेट ने उन्नीसवीं सदी में "इकाविया की यात्रा" नामक पुस्तक में साम्यवादी विचार प्रकट किये। सैन्ट साइमन ने अठारहवीं उन्नीसवीं सदी में नवीन ईसाई धर्म का ईसाई साम्यवाद का प्रचार किया। इनका एकमात्र साधन शुद्ध समझाना-बुझाना था। फरियर ने भी इसी काल में अपनी विश्व-व्यापी एकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इनका विश्वास था कि आकर्षण की शक्ति सर्वव्यापी तथा सनातन है। वह मनुष्यों को मिलकर काम करने के लिये खींचती है। फरियर शान्ति के पक्ष में और हिंसा के विरुद्ध था। उन्नीसवीं शताब्दी में लूई ब्लांक ने यह मत प्रकट किया कि व्यक्तित्व का विकास सर्वोच्च सिद्धान्त है। इनका सिद्धान्त था कि हरएक से उसकी शक्ति के अनुसार काम लिया जाना चाहिये और हरएक को उसकी जरूरत के मुताविक सामान दिया जाना चाहिये। इनकी राय में गरीवी ही भौतिकवाद का प्रचार करने वाली सब से बड़ी शक्ति है क्योंकि उसमें न शिक्षा सम्भव है न स्वतन्त्रता। फलस्वरूप मनुष्य की बुद्धि अन्धकार में रहती है। उन्नीसवीं सदी में प्राउधन ने समता स्वतन्त्रता और सहभ्रातृता का प्रचार किया। वह सम्पत्ति को चोरी समझता था फिर भी वैयक्तिक सम्पत्ति के पक्ष में था। वह समाजवादी न होकर अराजकतावादी मनुष्यों द्वारा मनुष्यों के ऊपर सब प्रकार के शासन का विरोधी था।

रौबर्ट ओवेन से पहले अठारहवीं सदी में थौमस स्पैंस विलि-

यम ओग्लिव और थौमसपेन ने राज द्वारा केवल एक ही टैक्स,लगाये जाने के सिद्धान्त का प्रतिपादन और समस्त अप्रत्यत्त करों का विरोध किया। विलियम गॉडविन ने वैयक्तिक सम्पत्ति का विरोध किया और लूई ब्लांक की तरह हरएक को उसकी जरूरत के मुताविक सामान दिये जाने के साम्यवादी सिद्धान्त का समर्थन किया। चार्ल्स हाल ने उन्नीसवीं सदी में "सभ्यता के परिणाम" नामक पुस्तक में कहा कि सभ्यता ने समाज को अमीर और गरीब इन दो श्रेणियों में बाँटकर श्रेणी-संघर्ष की सृष्टि की है और बार-बार युद्ध कराये हैं। धनवान विवेक और सदाचार का गला घोंट कर लोगों को इस बात के लिये तैयार कर देते हैं कि वे अपने ही साथी दूसरे लोगों की हत्या करें।

रौवर्ट ओवेन का जन्म सन् १७७१ में हुआ था। उसका कहना था कि मनुष्य का चरित्र उसके अपने हाथ में नहीं होता। उसके देशकालवस्था की सृष्टि होती है। उसने धर्म की धज्जियाँ उड़ाईं। श्रम-हुन्डियों-नोटों के प्रचलन का प्रतिपादन किया।

अमेरिका में अलवर्ट त्रिसवेन, हौरेस ग्रेडली, शीपिङ्ग और विलियम वैल्टिङ्ग ने कल्पना विहारी समाजवाद का प्रचार किया। विलियम वैल्टिङ्ग ने प्रतिभाशाली पुरुषों की डिक्टेटरशिप का समर्थन किया। सब के सब वैयक्तिक सम्पत्ति के विरोधी और अपने उदाहरण तथा भाषणादि द्वारा अपने सिद्धान्तों के प्रचार के पक्षपाती थे।

संयुक्त प्रदेश अमेरिका में समाजवादी या साम्यवादी विचारधारा अब तक कभी इतनी प्रबल नहीं हो सकी कि वह

सर्व साधारण के प्रवल आन्दोलनों के रूप में प्रकट हो सकती। वर्त्तमान काल में हिटलर के उदय के वाद तो वहाँ की कम्यूनिस्ट पार्टी खुल्लम-खुल्ला प्रेसीडेन्ट रूजवैल्ट और उनकी आर्थिक शासन नीति का समर्थन करती रही है।

आधुनिक कल्पना विहारी समाजवादियों "पीछे की ओर दृष्टि" के लेखक वैलामी, "स्वतन्त्र भूमि" के लेखक हर्टजम, "नक कही की खबरें" के लेखक विलियम मौरिस और "आधुनिक काल्पनिक जगत" के लेखक एच० जी० वैल्स का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

मार्क्सवाद

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में ही मार्क्सवाद का उदय हुआ। मार्क्सवाद के प्रवर्तक कार्ल मार्क्स का जन्म ५ मई सन् १८१८ को टायर नाम के नगर में हुआ। इनके माता-पिता मध्य वर्गीय यहूदी थे। पिता का नाम था हर्शलमार्क्स और माता का हैनरीटी। पिता टायर में वकालत करते थे। कार्ल-मार्क्स अपने माता-पिता की दूसरी संतान और सब से ज्येष्ठ पुत्र थे। अठारह वर्ष की उम्र में कार्लमार्क्स का अपनी वहिन लोवी की एक साथिन जैनी के साथ प्रेम हो गया। जैनी यद्यपि मार्क्स से उम्र में चार साल बड़ी थी, और प्रशिया के एक अफ-सर की लड़की थी। परन्तु प्रेम के कारण दोनों में शादी हो गई। काल्पनिक आदर्शों पर हठ पूर्वक एकाग्रचित्त होने की शक्ति कार्ल-मार्क्स में पहले ही से थी। उसको वह अपने यहूदी माता-पिता से पैत्रिक सम्पत्ति के तौर पर मिली थीं। पहले-पहले मार्क्स के उग्र तथा क्रान्तिकारी विचार Rheiuesober Zietung में निक-लने शुरू हुए। कुछ समय तक इस पत्र का सम्पादन भी मार्क्स के हाथ में रहा। इन विचारों के कारण अधिकारियों ने पत्र पर प्रतिवन्ध लगाये जिसके फलस्वरूप मार्क्स को पत्र से अपना सम्वन्ध हटा लेना पड़ा। परन्तु इस पत्र के लेखों के कारण मार्क्स की कीर्ति चारों ओर फैल गई।

शिक्षा समाप्त करके कार्लमार्क्स ने जीना विश्व विद्यालय में दर्शन शास्त्र की आचार्यत्व (डाक्टर) की पदवी प्राप्त की। जर्मन दार्शनिक हैगल के द्वन्दात्मक प्रगतिवाद, अंग्रेज वैज्ञानिक डार्विन के भौतिक विकासवाद और अंग्रेज अर्थ-शास्त्रज्ञ आद-मस्मथ, रिकार्डो आदि का कार्लमार्क्स के विचारों पर गहरा प्रभाव पड़ा। इन्हीं दिनों यूरोपीय देशों में मजदूरों की दुर्दशा और उनके आन्दोलन पर इनका ध्यान गया। मार्क्स ने उपर्युक्त तीनों विचार धाराओं के समिश्रण मजदूरों के संघर्ष के लिये एक वाद की श्रष्टि की यही वाद मार्क्सवाद कहलाया।

कार्लमार्क्स ने अपने ये विचार सबसे पहले सन् १८४८ के कम्यूनिस्ट घोषणा-पत्र में प्रगट किये। मार्क्सवाद को ही मार्क्स-वादी वैज्ञानिक समाजवाद कहते हैं। इस सामाजिक दर्शन का विगत यूरोपीय महायुद्ध तक साधारणतः संसार के सभी देशों में और विशेष कर ऐसे पांश्चात्य, यूरोपीय देशों के राजनैतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और सामाजिक विचारों पर गहरा प्रभाव पड़ा।

इन दिनों तो रूस जैसे विशाल देश में मार्क्सवादी कम्यू-निस्तों का राज है। परिणामस्वरूप संसार के विचार-प्रवाह और सामाजिक संघर्षों की प्रगति पर उसका पर्याप्त प्रभाव है। कम्यूनिस्त घोषणा-पत्र बनाने में तथा अन्य मार्क्सवादी विचारों की पुष्टि और अभिव्यक्ति करने में फ्रैडरिक ऐंजिल्स मार्क्स का मरणान्त साथी रहा। यह घोषणा-पत्र ही मार्क्सवाद का मूल है।

बाकी ग्रन्थों व लेखों में इसी की व्याख्या की गई है। मार्क्स कल्पना-विहारी साम्यवाद का महा सामालोचक है।

१८४८ के इस घोषणा-पत्र के प्रथम भाग में यह ऐलान किया गया कि जब से आदिम वंशीय समाज द्वारा भूमि के सामूहिक स्वामित्व वाले समाज की समाप्ति हुई तभी से मानव-जाति का समस्त इतिहास श्रेणी-संघर्ष का, शोषक वर्ग और शोषित वर्ग, शासक वर्ग और पीड़ित शासित वर्ग की लड़ाइयों का इतिहास है। कम्यूनिस्त घोषणा-पत्र में पूँजीवाद के क्रान्तिकारी पार्ट को तथा उनकी करामातों को स्वीकार करते हुये यह कहा गया है कि उसी से औद्योगिक सङ्कटों का तथा उन विनाश बीजों का, यानी एक ही स्थान पर एकत्रित काम करने वाले लक्ष-लक्ष सम्पत्तिहीन मज़दूरों का जन्म हुआ जो अन्त में पूँजीवाद की कब्र खोदेंगे। कम्यूनिस्त घोषणा-पत्र का कहना है कि कालान्तर में मध्यवर्ग तिरोहित हो जाता है। पूँजीपति और मज़दूर वर्ग दो ही प्रधानवर्ग रह जाते हैं। कारखानों में काम करने वाले जिन मज़दूरों के पास अपनी मेहनत मज़दूरी के सिवा और कोई सम्पत्ति नहीं होती वे सम्पत्ति हीन मज़दूर-सर्वहारा-प्रोलेतेरिएत ही एक मात्र क्रान्तिकारी वर्ग है। पूँजीवाद के पतन और इन प्रोलीतेरिएत मज़दूरों की जीत को यह मार्क्सवादी घोषणा-पत्र एकसा अनिवार्य मानते हैं।

घोषणा-पत्र के दूसरे भाग में कम्यूनिस्त तथा समाज-वाद का वर्णन है। इसमें कहा गया है कि भिन्न-भिन्न देशों के लोगों में राष्ट्रीय भेद-भाव तथा विरोध-भाव रोज़ व रोज़ ज्यादा से ज्यादा ग़ायब होते जा रहे हैं। इसी भाग के अन्त में कम्यूनिस्तों

की उन्नति का वर्णन तथा सम्पत्ति हीन मज़दूरों की डिक्टेटरशिप का प्रतिपादन किया गया है।

कम्यूनिस्त घोषणा-पत्र के तीसरे भाग में कम्यूनिज़्म (साम्य-वाद) के अलावा समाजवाद के जितने दूसरे स्वरूप और सम्प्रदाय हैं उन सब की समालोचना की गई है। कम्यूनिस्तों का कहना है कि हम अपने उद्देशों को छिपाते नहीं, खुल्लम-खुल्ला इस बात की घोषणा करते हैं कि हमारा उद्देश समस्त विद्यमान सामाजिक संस्थाओं तथा अवस्थाओं को बलपूर्वक हिंसा-द्वारा पलट देना है।

इस घोषणा-पत्र ने समाजवादियों को एक साथ ही उद्देश और ऐतिहासिक पृष्ठ-भाग प्रदान किया और मज़दूरों में उनके ऐतिहासिक धर्म (Mission) का उच्च भाव भरा। साथ में, उसने इस स्वप्न को भी नष्ट कर दिया कि बिना पर्याप्त तैयारी, भगीरथ प्रयत्न और भीषण संघर्ष के ही साम्यवाद अथवा समाजवाद विजयी हो जायगा।

"कार्ल मार्क्स की शिक्षाएँ" नामक पुस्तक में लिखा है कि मार्क्सवाद, मार्क्स के विचारों और उसकी शिक्षाओं की व्यवस्था को कहते हैं। मार्क्स ने अपनी प्रतिभा से उन्नीसवीं सदी की तीन प्रमुख विचार-धाराओं को प्रवाहित रक्खा तथा उन्हें पूर्ण किया। (१) जर्मनी का Classical दर्शन; (२) अँग्रेजों का Classical अर्थ-शास्त्र तथा (३) फ्रांसीसी क्रान्तिकारी सिद्धान्तों के साथ फ्रांसीसी समाज ही में तीन विचारधारायें थीं। मार्क्स ने संसार के समस्त सभ्य (अर्थात् औद्योगिक उन्नति वाले) देशों में

मजदूरों के आन्दोलनों के कार्यक्रम का सिद्धान्त स्थिर करने के तौर पर उन्नीसवीं सदी के भौतिकवाद और वैज्ञानिक समाजवाद की रचना की।

मार्क्सवाद के सिद्धान्तों को चार वर्गों में बांटा जा सकता है:—(१) मार्क्सवादी दर्शन अथवा इतिहास की भौतिक व्याख्या; (२) मार्क्सवादी अर्थ शास्त्र अथवा अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त; (३) मार्क्सवादी सामाजिक सिद्धान्त-वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त और (४) मार्क्सवादी राजनीति अथवा सम्पत्ति-हीन मजदूरों की डिक्टेटरशिप और श्रेणी हीन समाज। इन सिद्धान्तों का वर्णन और विवेचन करने से पहले मार्क्सवादी उतार-चढ़ाव का दिग्दर्शन तथा अन्य समाजवादी और साम्यवादी विचार-धाराओं का वर्णन आवश्यक प्रतीत होता है।

कम्यूनिस्त घोषणा-पत्र के पन्द्रह वरस वाद सन् १८६३ में प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय की स्थापना हुई। लेकिन दस वरस के भीतर ही यह आपसी मत-भेदों के कारण, विशेषतः अराजक वाकुनिन और मार्क्स के दूसरे प्रतिद्वन्दी लासाले के विरोधों के कारण मृत प्राय: हो गई। इधर १८७० में पेरिस में कम्यूनिस्त विद्रोह क्षणिक सफलता प्राप्त करने के वाद कुचल दिया गया। इन सब वातों का परिणाम यह हुआ कि मजदूर-वर्ग में गुप्त षड्यन्त्रों और आकस्मिक (Goup detat) छापों के साधनों से उन्नति की आशा छोड़ दी। इतना ही नहीं जब तक कि रूस में पचास वरस वाद राज-क्रान्ति न हुई तब तक हिंसा द्वारा समाजवाद स्थापित करने के कार्यक्रम में लोगों का विश्वास नहीं रहा। सन् १८८३

में जब मार्क्स की मृत्यु हुई तब भी बहुसंख्यक मजदूर-वर्ग हिंसा द्वारा समाज-वाद स्थापित करने में विश्वास नहीं करते थे।

दूसरी समाज-वादी विचार-धाराओं का वर्णन करने से पहले इतना कह देना और आवश्यक प्रतीत होता है कि यद्यपि रूस में कम्यूनिस्त पार्टी के हाथ में शासन की वाग-डोर आगई और उसके वाद मार्च १६१६ में मास्को में मार्क्स व ऐंजिल्स के अनुयायियों ने-लैनिन के नेतृत्व में तृतीय इन्टर नेशनल की स्थापना भी की जो १८८६ में स्थापित द्वितीय इन्टर नेशनल के वरुद्ध थी फिर भी रूस के बाहर दूसरे देशों के समाजवादियों में भी कम्यूनिस्त अपना बहुमत नहीं कर पाये। सन् १६४४ में तो युद्ध-जन्य परिस्थिति के कारण स्वयं रूस की सोवियत सरकार की सहमति से तृतीय इन्टर नेशनल भङ्ग कर दी गई है। साथ में यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि रूस के अतिरिक्त दूसरे किसी भी देश में समाजवादी सरकार नहीं स्थापित हो सकी है और स्वयं रूस में भी अभी साम्यवाद की स्थापना साम्यवादियों के शासन के सत्ताईस वरस वाद भी नहीं हो पाई है।

विगत महायुद्ध के वाद यूरोप के देशों में समाजवाद की बाढ़ सी आगई थी। अनेक समाजवादी यूरुप के बड़े-बड़े देशों में वहाँ की प्रजातन्त्रों के प्रेसीडेण्ट अथवा पार्लियामेन्टों के प्रधान-मन्त्री तक चुने गये। इटली, जर्मनी, आस्ट्रिया, डैनमार्क, स्वैडिन आदि अनेक देशों की पार्लियामेन्टों में समाजवादियों का बहुमत था। १६१८ में फिनलैन्ड में प्रोलीतेरिएत क्रान्ति हुई। १६१८-१६ में ही जापान में चावलों के लिए उपद्रव हुये तथा

आस्ट्रिया, हंगरी, कोरिया इत्यादि में क्रान्तियां हुईं। जनवरी १९२० में बवारिया में सोवियत सरकार क़ायम होगई। बल्गेरिया में १९२३ में विद्रोह हुआ। वायना में भी प्रोलीतेरिएत ने विद्रोह किया। १९२९ में इङ्गलैंड में मज़दूर पार्टी की सरकार क़ायम हुई और मि० रामजे मैकडोनल्ड प्रधानमन्त्री हुये परन्तु इन सब बातों के बावजूद रूस को छोड़कर और किसी भी देश में न तो सोवियत सरकार क़ायम हो सकी और न किसी दूसरे समाज-वादी दल को ही अपने देश के शासन की बागडोर अपने हाथ में लेने में सफलता मिली। जहाँ-जहाँ उनका बहुमत होगया था वहाँ वहाँ उनके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई और सभी देशों में प्रतिक्रिया की यह लहर कम से कम अब तक तो समाजवादी क्रान्ति की लहर को दबा कर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में सफल हुई है।

इङ्गलैण्ड में समाज-वादियों की दो विचार-धारायें उल्लेखनीय हैं। इनमें से फैबियन समाजवाद की स्थापना पहले कम्यूनिस्त घोषणा-पत्र के पैंतीस बरस बाद सन् १८८४ ई० में हुई। इस सम्प्रदाय के प्रमुख नेता जार्ज बर्नार्ड शॉ और सिडनी और बीट्रिस वैब हैं। ये मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त में विश्वास नहीं करते। इनका आधार रिकार्डो का भूमि का लगान सम्बन्धी नियम है। इनका विचार है कि हम शिक्षित-पेशेवर (Professional) समुदाय और मध्यवर्ग के लोगों में समाजवाद के सन्देश को दीक्षित कर सकते हैं। इनका समाजवाद लचीला है। वे धीरे-धीरे शान्तिमय साधनों से पूँजीवादी सामाजिक

सङ्गठन के स्थान पर समाज-वादी व्यवस्था स्थापित करने के पक्षपाती हैं। राष्ट्र की सामाजिक अन्तरात्मा की वृद्धि पर भी इनका विश्वास है। इङ्गलैण्ड के आर्थिक और सामाजिक विचारों पर इस समाजवादी दल के ग्रन्थों और पैम्फलेटों का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। हिंसामय साधनों में इनका तनिक भी विश्वास नहीं है। इनका विचार है कि महान् आर्थिक और सामाजिक शक्तियों के फलस्वरूप समाज-वाद की स्थापना अनिवार्य हो जायगी।

इङ्गलैण्ड का (Guild) संघ-समाजवाद मुख्यतः इन्डिपैन्डेन्ट लेबरपार्टी का मत है। मून का आदर्श प्राचीन समाजवाद और व्यापारिक (Syndicalism) सङ्घवाद के आदर्श का मध्यवर्ती है। ये उन समस्त समाजवादी कार्य-क्रमों का विरोध करते हैं जिनसे राज का कार्य-क्षेत्र दिन पर दिन बढ़ता जाता है तथा उद्योग-धन्धों पर मजदूरों के नियन्त्रण के पक्षपाती हैं। ये लोकतन्त्र में विश्वास करते हैं, और केवल राजनैतिक आन्दोलनों को अपर्याप्त समझते हैं। इनमें ए० आर० ओरेंज, ए० जे० रैन्टी, एस० एस० हौब्स और जी० डी० एच कोल प्रमुख हैं।

मेजर० सी० एच डौगलास ने साख पर नियन्त्रण (Credit control) के नये दर्शन का प्रतिपादन किया है। इनका कहना है कि चीजों की कीमतें लोगों की खपत की शक्ति से सदैव ऊपर रहती हैं अतः उत्पादकों की बैंकों द्वारा सामाजिक डिवीडैन्ड बाँटकर बहुसंख्यक खरीददारों की शक्ति बढ़ानी चाहिए। अमेरिका में औद्योगिक एक्य का भी प्रचार हो रहा है।

समाज-वादियों का एक उग्र क्रान्तिकारी दल Syndicalist सङ्घ-वादियों का दल है। ये राजनैतिक राज को कतई रद कर देने के पक्षपाती हैं। इनका कहना है कि समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने का एकमात्र कारगर उपाय औद्योगिक मार है। राजनैतिक मार नहीं। ये आम हड़ताल के पक्षपाती हैं। ये लोग श्रेणी संघर्ष के सिद्धांत में विश्वास करते हैं परन्तु इनका कहना है कि सङ्घ—व्यापारिक सङ्घ-मजदूर-सङ्घ ही सामाजिक सङ्गठन की इकाई का बीज है। यह मजदूर-सङ्घ एक हो या अधिक से अधिक एकसे उद्योग के सब मजदूरों का सङ्घ होना चाहिए। उनका सीधी मार का सिद्धान्त अनिवार्यतः हिंसात्मक नहीं होता। उसकी प्रधान पहचान यह है कि मजदूरों को अपनी लड़ाई खुद ही लड़नी चाहिए। उसमें बीच के बिचौंदियों की मदद नहीं लेनी चाहिए। सैब्रोतेज इनका एक प्रमुख अस्त्र है। इसके माने हैं कि जिस किसी तरीके से हो सके पूंजीपतियों के माल को, धन्धे को, कारखाने को, तोड़-फोड़ और विध्वंस की नीति द्वारा नुकसान पहुँचाया जाय जिससे वे घबड़ा कर मजदूरों के सामने आत्म-समर्पण करदें। ये लोकतन्त्र और राष्ट्रीयता के विरोधी हैं। मजदूरों के जरनल फैडरेशन ने इस बात पर जोर दिया है कि थोड़े से सचेत अथवा प्रबुद्ध तथा श्रद्धालु मजदूर भी क्रान्ति के नेता हो सकते हैं। यह संघ-वाद वामपक्षी समाज-वादियों द्वारा मार्क्सवाद की पुनरावृत्ति Revesionism है। ह्यूवर्ट लोगार्ड, रोडवर्ड वर्थ और जौजैज सोरेल सङ्घ वाद के सिद्धांत के प्रतिपादन करने वाले पण्डित हैं। 'हिंसा के संबन्ध

में विचार' नामक जौजेर्ज सौरैल की पुस्तक पठनीय है। आम हड़ताल को वह एक सामाजिक (कपोल-कल्पना) देवी मानता है जो सामाजिक विकास की देवी है। फ्रांस के मजदूरों में सङ्घ-वाद का वहुत जोर है और वह वढ़ता ही जा रहा है। ये नौकरशाही तथा राज-समाजवाद के विरोधी होते हैं। फ्रांसीसी सङ्घवादी व्यापारिक और औद्योगिक प्रगति पर निश्चित जोर देते हैं। उसे ही नवीन औद्योगिक बनाव का आधार मानते हैं। वे उद्योग-धन्धों पर खरीददार जनता का नियन्त्रण नहीं चाहते, उत्पादन करने वाले मजदूरों का नियन्त्रण चाहते हैं। वे राजनैतिक राज को नष्ट करने के पक्षपाती हैं। मजदूरों की मुक्ति के लिए वे राजनैतिक क्रांति के महत्त्व को नहीं मानते। सामाजिक कायापलट के लिए आम हड़ताल तथा दूसरी प्रकार की सीधी मारों का समर्थन करते हैं। यह सङ्घ-वाद फ्रांसीसी मजदूर-आन्दोलन की सृष्टि है। सन् १८९२ में मार्सैलीज में सिन्डीकेटों के नेशनल फैडरेशन की जो कांग्रेस हुई थी उसमें सीधी मार के आम हड़ताल, सैवोतेज, वायकाट आदि स्वरूपों को प्रस्ताव द्वारा स्वीकृत तथा प्रतिपादित किया गया था।

जर्मनी में सामाजिक लोकतन्त्र (Social democracy) का काफ़ी जोर रहा। युद्ध के वाद इसी दल के लोग जर्मनी की पार्लियामेन्ट में सबसे अधिक संख्या में थे। फर्डीनेण्ड लासाले (१८२५-१८६६) इस दल का नेता और कार्ल मार्क्स का समकालीन था। प्रथम इन्टर नेशनल में बाकुनिन और प्राउधनादि अराजकता वादियों के साथ जिन लोगों ने कार्ल मार्क्स का प्रबल

विरोध किया उनमें बाकुनिन के बाद दूसरा नम्बर फर्डीनेन्ड लासाले का ही था। लासले का मत था कि राज का सच्चा कार्य यह है कि वह स्वतन्त्रता की ओर मानव-जाति का विकास करे। इस उद्देश्य की पूर्ति सब बालिग स्त्री-पुरुषों के एक से मताधिकार के आधार पर चुने हुए प्रतिनिधियों के बहुमत से हो सकती है। अर्थात् वह पार्लियामेन्टरी पद्धति से समाजवाद की स्थापना में विश्वास करता था।

जर्मनी में मार्क्सवाद विरोधी समाजवादियों का दूसरा और विचार तथा व्यवहार की दृष्टि से अधिक सफल दल बर्न-स्टीन का मार्क्सवाद में संशोधन-वादियों का, दल था। एडवर्ड बर्नस्टीन खुद जर्मन था और वह बीसवीं शताब्दी तक रहा। उसका जन्म १८५० में हुआ था। इसका कहना था कि मार्क्स का यह सिद्धांत ग़लत है भूमि और पूँजी दिन पर दिन अधिकाधिक थोड़े से लोगों के हाथों में सञ्चित अथवा केन्द्रित होती जाती है। उसका कहना था कि मजदूर के नेताओं और समाज-वादियों को क्रान्ति के सपने देखने के बजाय फौरी सुधारों की तरफ़ ध्यान देना चाहिए और इस प्रकार के सुधारों से ही किसानों को अपने पक्ष में कर लेना चाहिए क्योंकि कष्ट-पीड़ित किसान आपकी कल्पित क्रान्ति की कोरी आशा पर बहुत दिनों तक आपका साथ नहीं दे सकते।

अपने "विकासवादी समाजवाद" में १८६६ में उसने कहा कि —(१) पूँजीवादी प्रथा का पतन निकट नहीं है (२) कम्यूनिस्त घोषणा-पत्र की आम प्रवृत्तियाँ सही होते हुये भी कम्यूनिस्ट जिस

दिशा में जारहे हैं वह गलत है, (३) सामाजिक अवस्थाओं के विकास के फलस्वरूप कम्यूनिस्ट घोषणा-पत्र में श्रेणी-संघर्ष के जिस विकट संकट का चित्र खींचा गया था वह पूरा नहीं हुआ, (४) उत्पादक उद्योगों का केन्द्रीकरण अपने समस्त विभागों में आज भी एकसी पूर्णता या एकसी जाति से पूरा नहीं होरहा, (५) पूँजीवाद की शोषक प्रवृत्तियों के विरुद्ध पूँजीवादियों में ही प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गई है, (६) समाज़वाद की स्थायी सफलता का बहतर रहस्य धीरे-धीरे आगे वढ़ने में है न कि पूँजीवाद के दैवी संहारक पतन की संम्भावना पर आशा लगाये बैठे रहने में, हमें सामाजिक लोकतन्त्र के कल के निकट के कामों पर जोर देना चाहिए यानी जो कार्यक्रम निकट भविष्य में पूरा किया जा सके उसे ही अपनाना चाहिए। यह प्रगति ही सब कुछ है। समाजवाद का आदर्श केवल एक कपोल-कल्पना है। उसका नारा था—"मजदूरों का क़दम व क़दम मार्च ही सब कुछ है।" वर्नस्टीन का कहना था कि आर्थिक संकटों से पूँजीवाद का भैंसा नहीं वैठेगा। उसकी राय है कि औद्योगिक प्रोलीतेरियत प्रायः सर्वत्र अल्प संख्या में हैं अतः मजदूर-वर्ग की अपनी सफलता के लिए प्रोलीतेरियत डिक्टेटरशिप का भरोसा न करके लोकतन्त्र और सहयोग-समितियों के साधनों का आश्रय लेना चाहिए। वर्नस्टीन की यह राय थी कि मार्क्स के वाद की एतिहासिक प्रगति ने प्रोलीतेरियत की डिक्टेटरशिप के नारे को पुरानखण्डी बना दिया है। उसने कहा कि मार्क्स के कथनानुसार न तो मध्यवर्ग ही घट रहा है और न मजदूरों की दशा पहिले से

अधिक बुरी ही हो रही है! हेरी डवलू लैंडलर ने अपनी "सामाजिक विचार का इतिहास" नामक पुस्तक के तीनसौ-सत्रहवें पृष्ट पर लिखा है कि समाजवादी विचार-धारा और कार्यक्रम पर वर्नस्टीन के इन विचारों का वहुत प्रभाव पड़ा। द्वितीय इन्टर नेशनल के मानने वाले जो सोशियल डिमोक्रैट मार्क्सवाद के आम सिद्धान्तों में विश्वास करते थे वे भी अपने दैनिक आन्दोलनों में उसी प्रकार सामाजिक सुधारों की व्यावहारिक और शान्तिमय योजनाओं से काम लेते थे जिस प्रकार वे वर्नस्टीन के विचारों के सार को मान कर लेते। इसी पुस्तक के पाँचसो अड़तालीसवें पृष्ठ पर उन्होंने यह भी लिखा है कि शनैः शनैः समझौते द्वारा समाजवाद व्यापक करने की यह नीति आमतौर पर फ्रांस, जर्मनी, इंगलैंड, आस्ट्रिया, हंगरी, डेनमार्क, स्वैडिन, नौर्वे, वेलिजियम, हौलैन्ड, फिनलैन्ड, स्विटजरलैंन्ड, पौलैन्ड, स्पेन और चैकोस्लोवेकिया प्रभृति यूरुप के सभी देशों में फैल गई।

वीसवीं सदी में लैनिन ने अपनी "क्या करें" नामक पुस्तक में स्वयं मार्क्सवादियों के इन भेदों-प्रभेदों अथवा शाखा-प्रशाखाओं का मत-मतान्तरों का उल्लेख किया है। उसका कहना है कि द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय मार्क्सवादियों, उस समय तक सोशिएल डिमोक्रेट के नाम से पुकारे जाने वाले मार्क्सवादियों में दो प्रवृत्तियाँ वन गई हैं। एक प्रवृत्ति पुराने मार्क्सवादियों की है, दूसरी वह जिसका सिद्धान्त-कथन वर्नस्टीन ने किया है तथा जिसको प्रयोग में प्रदर्शित मिलरैंएड ने जर्मनी में किया है।

इंगलैंन्ड के फैवियन, फ्रांस के मंत्रिमण्डल-वादी, जर्मनी के वर्नस्टीनवादी तथा रूस के "समालोचक" सभी तुच्छ सुधारों में ही विश्वास रखने लगे हैं।

अब अन्यत्र मार्क्स-वाद के जिन मुख्य चार-सिद्धान्तों का उल्लेख कर आये हैं उनको लीजिये इनमें से पहला सिद्धान्त

मार्क्सवादी दर्शन

इतिहास की भौतिक व्याख्या अथवा द्वन्दात्मक भौतिक-वाद का सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त हर प्रकार की अलौकिक शक्तियों को, आत्मा-परमात्मा सब के अस्तित्व को, समस्त अति-भौतिक और अध्यात्मिक सिद्धान्तों को अस्वीकार करके बाह्य, भौतिक द्रश्य जगत को ही सत्य मानता है। ऐञ्जिल्स के शब्दों में भौतिक-वाद वह यन्त्र है जो चेतन या चेतन के बदले प्रकृति को ही तमाम जड़-चेतन जगत का मूल मानता है। अर्थात् यह भौतिक-वाद एक-मूल प्रकृति-वाद है। परन्तु मार्क्स और ऐञ्जिल्स पुराण अथवा जड़ भौतिक-वाद या यान्त्रिक भौतिक-वाद को न मानकर द्वन्दात्मक भौतिक-वाद को मानते हैं। हेगल ने द्वन्दात्मक प्रगति-वाद के जिस सिद्धान्त को भावों idea अथवा विचारों से ही समस्त सृष्टि के विकास और प्रगति की व्याख्या करने के लिये प्रतिपादित किया उसी को मार्क्स ने भावों अथवा विचारों के बदले प्रकृति और अर्थोत्पत्ति से ही द्रश्य-जगत और सामाजिक प्रगति के लिए लागू करके डार्विन के विकास-वाद और हेगल के द्वन्दात्मक प्रगति-वाद का सम्मिश्रण किया तथा अपने द्वन्दात्मक भौतक-वाद के सिद्धान्त को प्रचलित किया। मार्क्स के अनुयायी इस द्वन्दात्मक भौतिक-वाद के सिद्धान्त को ही वैज्ञानिक समाजवाद का नाम देते हैं। मार्क्सवादी ऐसे किसी भी वाद, विचार या मानव-मस्तिष्क की किसी भी ऐसी कल्पना

को मानने के लिए तैयार नहीं हैं जो भौतिक विश्लेषण और परीक्षण में ठीक न उतरे अथवा जो प्रयोग द्वारा प्रमाणित और प्रदर्शित न हो सके। वाद, प्रतिवाद और समुच्चय-वाद मार्क्स के द्वन्दात्मक भौतिकवाद की त्रिपुटी है। मार्क्सवादी यह मानते हैं कि वाद-प्रतिवाद के समुच्चय में गुणोत्कर्ष अथवा गुण-परिवर्त्तन होता है। मार्क्स का हेतु-वाद तर्क निर्भर नहीं, वस्तु निर्भर है।

वास्तव में मार्क्स का द्वन्दात्मक प्रगतिवाद का सिद्धान्त सामाजिक परिवर्तन के मानव-विचार और बाह्य-जगत दोनों में समाज के विकास और उसकी प्रगति के आम विषयों का अथवा विज्ञान है। यह सिद्धान्त आर्थिक नियत-वाद का सिद्धान्त है। अपनी "अर्थ शास्त्र की आलोचना" नामक पुस्तक के ग्यारहवें पृष्ठ पर मार्क्स ने लिखा है कि, "भौतिक जीवन में उत्पादन का ढङ्ग जीवन की सामाजिक, राजनैतिक और आध्यात्मिक प्रक्रियाओं के साधारण प्रकार को नियत कर देता है।" प्रत्येक युग में समाज के आर्थिक सम्बन्ध, यानी वे साधन जिनसे स्त्री-पुरुष अपनी आवश्यकताओं की परितुष्टि के लिए जिन चीजों के उत्पादन, विनिमय और वितरण द्वारा जीवन-निर्वाह करना आवश्यक समझते हैं उन चीजों के उत्पादन, विनिमय, वितरणादि से उस समय के समाज के समस्त स्त्री-पुरुषों में परस्पर जो आर्थिक सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं वे समाज की उन्नति का स्वरूप बनाने में, उसके राजनैतिक, सामाजिक, बौद्धिक और नैतिक सम्बन्धों को साँचे में ढालने में प्रधान कारण होते हैं।

द्वन्दात्मक प्रगतिवाद के इस सिद्धान्तानुसार जगत परिवर्तन शील है। उसकी दृष्टि में ऐसी कोई चीज़ नहीं जो सदा के लिए स्थापित हो गई हो, या जो पूर्ण या पवित्र हो। हर चीज़ पर और चीज़ों में मार्क्सवाद को अपरिहार्य ह्रास की छाप लगी हुई दिखाई देती है। उससे कुछ भी नहीं बच सकता। हर चीज़ के जन्म-मरण की, बनने और नष्ट होने की यह सतत प्रक्रिया, नीची अवस्था से अधिकाधिक ऊँचे चढ़ते जाने की अनन्त प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें स्वयं दर्शन विचार शील मस्तिष्क के भीतर उसका सीधा प्रतिबिम्ब मात्र है। मार्क्स के मतानुसार मानव की प्रथम चेतना उसके सामाजिक अस्तित्व को नहीं नियत करती परन्तु इसके विपरीत उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना को नियत करता है।

इससे पहले मार्क्स की "अर्थशास्त्र की आलोचना" नामक पुस्तक के ग्यारहवें पृष्ठ से मार्क्स का जो मत उद्धृत किया गया है उससे पहले उसी पुस्तक में मार्क्स ने यह लिखा है कि जीवन के साधनों के सामाजिक उत्पादन की क्रिया में मनुष्य परस्पर ऐसे सुनिश्चित तथा आवश्यक सम्बन्धों से आवद्ध होते हैं जो उनकी इच्छा से स्वतन्त्र होते हैं। ये उत्पादन-सम्बन्ध उनकी उत्पादक शक्तियों के विकास की निश्चित अवस्था के अनुकूल होते हैं। इन उत्पादन-सम्बन्धों के साकल्य से ही समाज का आर्थिक भवन निर्मित होता है। यही वह वास्तविक आधार है जिस पर तत्कालीन समाज का समस्त कानूनी और राजनैतिक भवन

खड़ा होता है। सामाजिक चेतना की निश्चित शक्तियाँ भी इसी आर्थिक भवन के अनुरूप होती हैं।

इतिहास की यह भौतिक व्याख्या, समाज के आर्थिक बनाव का यह सिद्धान्त युगान्तरकारी है। वह सामाजिक जगत् में भी भौतिक भावना का प्रवेश कर देता है और इन सवालों की ओर ध्यान आकर्षित करता है:—(१) जन-साधारण के रूप में लोगों के उद्देश किस प्रकार नियत होते हैं, (२) विरोधी-भावों के संघर्षों और अन्तहीन युद्धों का कारण क्या है? (३) मानव-समाज के समूचे ढेर में इन तमाम संघर्षों का योगफल क्या है? (४) वे बाह्य अवस्थाएँ कौनसी हैं जो मनुष्य की समस्त ऐतिहासिक क्रियाशीलता का आधार हैं और (५) समाज के विकास की प्रगति के नियम क्या हैं?

इसी बात को लेनिन ने "भौतिक-वाद और अनुभव-निर्भर आलोचना" नामक पुस्तक में इस प्रकार कहा है कि, "मानवता का स्वभाव सिद्धान्तों से नपित नहीं होता। स्वयं सिद्धान्त उसी हद तक सही होते हैं जिस हद तक वे प्रकृति और इतिहास के अनुकूल हों।" यही भौतिक-वादी धारणा है। वह आदर्शवादी (अध्यात्मिक) धारणा की विरोधी है। भौतिकवादियों का कहना है कि मनुष्य प्रकृति के बाद उत्पन्न हुआ है। मनुष्य जो कुछ सोचता है वह भी प्रकृति-प्रदत्त मस्तिष्क की सहायता से।

समाज-विशेष में आर्थिक उत्पादन की जो अवस्था होती है उस अवस्था में एक वर्ग-विशेष का उत्पादन के साधनों पर प्रभुत्व रहता है। यही स्वामी-वर्ग तत्कालीन समाज के मनोभावों

और विचारों को, जीवन के दृष्टिकोणों को अपने साँचे में ढालता है। इस प्रकार मार्क्स के दर्शन के मुताबिक समाज के सदाचार सम्बन्धी सिद्धान्त उस वर्ग के कानून मात्र होते हैं जिसको तत्कालीन समाज में उत्पत्ति के साधनों पर प्रभुत्व होता है।

मार्क्सवादियों का कहना है कि ज्यों ही मानव अपने जीवन-निर्वाह के साधनों की सृष्टि करने लगता है त्यों ही वह अपने को पशु-श्रेणी से अलग करने लगता है। निश्चित रूप से उत्पादन-कार्य में लगे हुए व्यक्ति विशेप परस्पर सुनिश्चित सामाजिक तथा राजनैतिक सम्वन्ध स्थापित करते हैं। यही उनके जीवन का निश्चित ढङ्ग होता है। सदाचार, धर्म और अध्यात्मादि चेतना के तदनुकूल रूप अपने समय के इतिहास मे स्वतन्त्र नहीं होते। जीवन-चेतना नियत नहीं, चेतना जीवन नियत है। प्रकृति के समस्त दृश्य सुव्यवस्थित रूप से परस्पर सम्बद्ध हैं। जैसे कीड़े से तितली पैदा होती है वैसे ही सामन्त-काल के नागरिकों से बुरजुआ-वर्ग की उत्पत्ति हुई। द्वन्दात्मक प्रगतिवाद के अनुसार संसार की कोई भी चीज गतिशून्य नहीं परन्तु सब गतिशील हैं। परिवर्तन ही जीवन है। सब चीजें परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित करती रहती हैं। जीवन हूबहू इसी में है कि हर जीवित प्राणी प्रत्येक पल में खुद भी है और खुद के अलावा दूसरी चीज भी है। इस प्रकार जीवन की हर चीज में तथा प्रत्येक प्रक्रिया में है। उसी का विरोध विद्यमान रहता है जो निरन्तर अपने अस्तित्व का परिचय देता रहता है। ज्यों ही वह द्वन्द बन्द हो जाता है त्यों ही जीवन भी समाप्त हो जाता है। बीज के प्रतिबिम्ब

(विनाश) से पौधा उत्पन्न होता है और पौदे के प्रतिवेध्य से बीज। समाज में काम करने वाली ये शक्तियाँ प्रकृति में काम करने वाली शक्तियों की ही तरह अन्धी, क्रूर और संहारक होती हैं जब तक कि हम उनके रहस्य का ज्ञान प्राप्त करके उन्हें काबू में न करें। मिसाल के तौर पर बिजली संहारक शक्ति है परन्तु उसके रहस्य का पता पाकर हम उससे रोशनी, टेलीफ़ोन वगैरः के बीसियों काम लेते हैं।

मार्क्स-वादी दर्शन के अनुसार धर्म मनुष्य के मन में उन बाहरी शक्तियों का कपोल-कल्पित (विस्मयजन्य) प्रतिबिम्ब मात्र है जो उनके दैनिक जीवन का नियन्त्रण करती हैं। इस प्रतिबिम्ब में पार्थिव शक्तियां अलौकिक शक्तियों का रूप धारण कर लेती हैं।

ऐञ्जिल्स ने "राज परिवार तथा वैयक्तिक सम्पत्ति की उत्पत्ति" नामक पुस्तक में परिवार का विकास भी वैयक्तिक सम्पत्ति को मानने वाली सामाजिक अवस्था से उत्पन्न बताया है। मार्क्सवाद के अनुसार इतिहास का दर्शन, दर्शन के इतिहास के सिवा और कुछ नहीं। प्रत्येक विचार अपना वाद करके उसका प्रतिवाद करता है। इन दोनों घनात्मक तथा ऋणात्मक परस्पर विरोधी वस्तुओं में जो संघर्ष होता है वही द्वन्दात्मक प्रगति का कारण होता है। अन्त में दोनों द्वन्द एक नये वाद में समुच्चित हो जाते हैं।

उत्पादन की नई शक्तियों को हासिल करके मानव-समाज अपने उत्पादन के ढङ्ग को बदल देते हैं और उत्पादन के ढङ्ग को

बदलते ही अपने सारे सामाजिक सम्बन्धों को भी बदल देते हैं। हाथ के कारखानों द्वारा सम्पत्ति उत्पादन किये जाने वाले समाज में सामन्तशाही का जन्म होता है और भाप तथा बिजली के कारखानों से माल तैयार करने वाले समाज से मिल मालिकों और पूँजीपतियों का जन्म होता है। यह बात मार्क्स ने अपनी "दर्शन की दरिद्रता" नामक पुस्तक में कही है।

समस्त वस्तुओं या विचारों का विकास परस्पर विरोधी तत्वों या प्रवृत्तियों के संघर्ष, द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया से होता है। इसीलिए यह संघर्ष आवश्यक और फलप्रद है। इसमें लगातार ऊँच-नीच होती रहती है परन्तु यह प्रक्रिया है अन्तहीन। इति की कहीं कोई सीमा नहीं। मार्क्सवाद में व्यक्तियों का विचार उसी हद तक किया गया है जिस हद तक वे श्रेणी सम्बन्धों तथा श्रेणी-स्वार्थों की प्रतिमूर्ति होते हैं। वह मानव-स्वभाव को स्थिर न मान कर परिवर्त्तनशील मानता था। यह मार्क्सवादी दर्शन कर्ममय है। मार्क्स मनुष्यों को घटनाओं का निष्क्रिय द्रष्टा न मानकर सक्रिय रूप से उन घटनाओं को अपने साँचे में ढालने वाला मानता है। मार्क्सवाद का कहना है कि मनुष्य स्वयं मानव-इतिहास के निर्माता हैं।

——

मार्क्सवादी अर्थशास्त्र

अर्थशास्त्र में मार्क्सवाद की विशेषता उसका अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार चीज़ों का सापेक्ष मूल्य हर चीज़ की उसकी मेहनत की मात्रा पर मुनहस्सिर है जो उसके बनाने में लगी या मुकर्रर हुई। अतिरिक्त मूल्य का यही सिद्धान्त मार्क्सवाद का आर्थिक आधार है। मार्क्स ने "कैपीटल" में क्रय-वस्तु (Comodities) की परिभाषा इन शब्दों में की है। हमसे बाहर और भिन्न वे चीजें हैं जो अपने गुणों से किसी न किसी मानवी आवश्यकता की पूर्ति करती हैं।

हर चीज़ की उपयोगिता से ही उसके उपयोग के मूल्य की सृष्टि होती है। यह उपयोगिता हर चीज़ के अपने भौतिक गुणों से सीमित होती है। उस चीज़ से अलग इस उपयोगिता का कोई अस्तित्व नहीं। उपयोग-मूल्य (Use-Value) इस्तैमाल या विनिमय से ही वास्तविक होता है चीज़ों की क़ीमत (Value) का व्यक्तिकरण उनके उपयोग-मूल्य से बिल्कुल स्वतन्त्र चीज़ की शकल में होता है! उपयोग-मूल्य का मूल्य तो केवल इसीलिए है कि उस चीज़ में मानवीश्रम अव्यक्त रूप में प्रत्यक्ष या मूर्तिमान हुआ है। मूल्य की न्यूनाधिकता उस चीज के बनाने में कितनी मेहनत करनी पड़ी उससे मापी जानी चाहिये। मेहनत की मिकदार घन्टों, दिन या हफ्तों के रूप में—उस समय से की जानी चाहिए जो इस चीज़ के बनाने में सामाजिक दृष्टि से जरूरी तौर पर

लगा। सामाजिक दृष्टि से आवश्यक मज़दूरी का काल-माप वह समय है जो उत्पादन की साधारण अवस्थाओं में औसत दर्जे की योग्यता और उस समय में प्रचलित मेहनत की गहराई से काम करने वाले मज़दूर के लिए उस चीज़ को तैयार करने में ज़रूरी हो। किसी चीज के बनाने में जितना ही अधिक समय लगता है उसका मूल्य भी उसी हिसाब से बढ़ता है तथा जो चीज़ जितनी कम मेहनत से तैयार होती है उसका मूल्य भी उसी हिसाब से कम हो जाता है। किसी चीज़ का कोई मूल्य न हो तब भी उसका उपयोग-मूल्य हो सकता है। मसलन उस हालत में जब कि कोई मानवोपयोगी पदार्थ मनुष्य की मेहनत से न बना हो, जैसे योंही पड़ी अछूत भूमि या प्राकृतिक चरागाह। एक चीज़ उपयोगी और मानवश्रम जनित होते हुये भी "सौदा" नहीं हो सकती। मसलन, जब मनुष्य अपनी ही मेहनत से सीधा अपनी आवश्यकता को पूरा कर लेता है। ऐसा श्रम उपयोग-मूल्य की सृष्टि करता है सौदे की नहीं। सौदा वही चीज़ हो सकती है जिसका सामाजिक मूल्य हो, अथवा जो दूसरों के लिये उपयोगी-मूल्य रखती हो। अगर पैदा की हुई चीज़ निरुपयोगी हुई तो उस चीज़ को पैदा करने में जो समय लगाया गया उसका कोई मूल्य नहीं। कुछ पदार्थ ऐसे भी हो सकते हैं जिनकी क़ीमत तो हो परन्तु जिनका कोई मूल्य न हो। ऐसी दशा में उस पदार्थ की क़ीमत काल्पनिक है।

मार्क्स के कथानुसार इस्तैमाल की हर एक चीज़ (सौदे) में वह मेहनत मिली हुई है जो कि सबके साझे की—सामाजिक है।

हर चीज के बनने में केवल किसी एक व्यक्ति का नहीं तमाम समाज का हाथ होता है। दूसरे लोगों की मेहनत का ही नहीं, पहिली पीढ़ियों में विकसित हुए अनुभव का भी उसमें साझा है क्यों कि किसी भी चीज को बनाते वक्त बनाने वाला इस परम्परा प्राप्त अनुभव का इस्तैमाल करता है। जिस मेहनत की मात्रा पर चीजों का मूल्य निर्भर करता है वह सिर्फ उस चीज के बनाने वाले द्वारा खर्च किये गये या उसमें डाले गये श्रम तक ही सीमित नहीं हैं बल्कि जिन हथियारों और दूसरे लाजिमी सामान की मदद से वह चीज बनी है उनके सम्बन्ध से भी, सामाजिक दृष्टि से अनिवार्य श्रम भी उसमें शामिल है। क़ीमत मूल्य नहीं है बल्कि मूल्य का रुपये पैसे आदि में कहा गया रूप है। यह क़ीमत दोनों तरह की होती है—स्वाभाविक भी और बाजारी भी।

श्रम-शक्ति का मूल्य उन ज़रूरतों पर मुनहस्सिर होता है जो किसी चीज को पैदा करने, विकसित करने, कायम और जारी रखने के लिए ज़रूरी है। उसमें मजदूर का अपना शारीरिक खर्च ही शामिल नहीं है बल्कि उसके मन को स्वस्थ रखने तथा उसकी जगह खाली न होने पावे इस उद्देश से उसके बाल-बच्चों की उचित संख्या का खर्च भी उसमें शामिल है। मानलीजिये कि किसी आदमी को अपनी दिनभर की उपर्युक्त ज़रूरतों को पूरा करने के लिए आवश्यक चीजें पैदा करने के लिए छः घन्टे की मेहनत की ज़रूरत है और मानलीजिये कि इस छः घन्टे की मेहनत से जो माल तैयार होता है उसकी कीमत एक रुपया है तो उस समाज में इस श्रेणी के मनुष्य की एक दिन की मज़दूरी

छः घन्टे की मजदूरी की, क़ीमत एक रुपया हुई। अब अगर जिस कारखाने में मजदूर काम करता है, उसमें उससे बारह घन्टे काम लेकर उसे एक रुपया मजदूरी दी जाती है तो बाक़ी छः घन्टे की मजदूरी अतिरिक्त मूल्य या लाभ के रूप में कारखाने के मालिक की जेब में गई। मार्क्स के कथनानुसार सारा पूँजीवाद इसी अतिरिक्त मूल्य के लिए है।

मार्क्स का कहना है कि चीज़ों (सौदों) के उत्पादन में विकास की अवस्था-विशेष में 'क़ीमतों की माप' रुपया पूँजी में परिवर्त्तित हो जाता है।

वर्ग—संघर्ष

मार्क्स का सामाजिक सिद्धान्त वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त है। मार्क्स ने सन् १८४८ ई० के कम्यूनिस्ट घोषणा-पत्र में यह लिखा था कि अतीत और वर्तमान समाज 'मानव-समाज' का इतिहास श्रेणी-संघर्ष का इतिहास रहा है। ऐञ्जिल्स ने इसमें "आदिम मानव- समाज के इतिहास को छोड़कर" ये शब्द मार्क्स के वाक्य के पहले बढ़ा दिये थे। यह संघर्ष पीड़ितों और पीड़कों का संघर्ष होता है। उक्त घोषणा-पत्र में यह भी लिखा गया है कि निम्न मध्य-वर्ग के लोग, छोटे-छोटे माल बनाने वाले, व्यापारी, कारीगर और किसान सब के सब मध्य-वर्ग के अंश की हैसियत से अपने-अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए बुरजिओई वर्ग से लड़ते हैं।

मोटे तौर पर श्रेणी-संघर्ष का इतिहास इस प्रकार है। पहले किसानों और सामन्तों के रूप में दो वर्ग थे। इनमें

सामन्त शोषक और किसानादि शोषित वर्ग थे। सामन्तशाही के विकास ने क़सबों, शहरों और पूँजी को जन्म दिया। अर्थात् सामन्तशाही की सामाजिक अवस्था में उसके विनाश के बीज विद्यमान थे। सामन्तशाही तथा क़सबे वालों में संघर्ष चलता रहा और अन्त में इन दोनों वर्गों का समुच्चय बुरजोई पूँजीपति-वर्ग में हुआ। पूँजीपति-वर्ग ने सामन्तशाही को नष्ट करके तथा माल का उत्पादन बड़े पैमाने पर करके, जीवन के रहन-सहन का आदर्श बढ़ा कर, समाज की औद्योगिक और साम्पत्तिक उन्नति के रूप में क्रान्तिकारी कार्य किया। परन्तु पूँजीवाद में भी उसके विनाश के बीज मौजूद हैं। इस समय पूँजीवादी शोषक वर्ग है और बाकी सब शोषित वर्ग। परन्तु पूँजीवाद को उत्पादन की आवश्यकता के फलस्वरूप बड़े-बड़े शहरों में लाखों की तादाद में जिन सम्पत्तिहीन मजदूरों को इकट्ठा करके काम लेना पड़ता है उन्हीं में अपने क़ब्र खोदने वाले वह खुद पैदा कर रहा है। मार्क्सवादियों का विश्वास है कि पूँजीवाद के विकास की प्रक्रिया का परिणाम यह होगा कि थोड़े से लोग अधिकाधिक धनी और बहुसंख्यक लोग अधिकाधिक दुखी और ग़रीब होते जायँगे। कालान्तर में उत्पादन के समस्त साधन बहुत ही थोड़े लोगों के हाथ में केन्द्रित हो जायँगे और उधर समाज की भारी बहुसंख्या सम्पत्तिहीन मजदूरों की हो जायगी। पूँजीवाद छोटे-छोटे कारखाने वालों, छोटे-छोटे दुकानदारों और अन्य मध्यवर्गीय समूहों को नष्ट करके उन्हें सम्पत्तिहीन मजदूरों की श्रेणी में परिणत करता

जायगा। यह प्रक्रिया अपनी चरम सीमा पर पहुँचेगी। अनुकूल अवसर आते ही बहुसंख्यक सम्पत्तिहीन मजदूर थोड़े से पूँजीपतियों की समस्त सम्पत्ति—विशेषकर उत्पादन के समस्त साधनों—पर क़ब्ज़ा करके पूँजीवाद और पूँजीपतियों को नष्ट कर देंगे और प्रोलीतेरियत-सर्वहारा अथवा सम्पत्तिहीन मजदूरों की डिक्टेटरशिप क़ायम कर देंगे।

मार्क्सवाद के अनुसार यह श्रेणी-संघर्ष ही समाज के विकास, उसकी उन्नति और प्रगति का प्रधान कारण है। जब से मानव-समाज में वैयक्तिक सम्पत्ति का उदय हुआ और उत्पादन के साधन किसी वर्ग-विशेष के हाथ में आये तभी से शोषक और शोषितों का, पीड़क और पीड़ितों का, गरीबों और अमीरों का यह संघर्ष बराबर चला आ रहा है। और जबतक पूँजीवाद के अन्तिम विकास—साम्राज्यवाद और फैसिस्तवाद—का विनाश होकर सर्वत्र सम्पत्तिहीन मजदूरों की डिक्टेटरशिप क़ायम होकर, वैयक्तिक सम्पत्ति की संस्था को नष्ट नहीं किया जाता तब तक यह श्रेणी-संघर्ष, थोड़े से लोगों द्वारा बहुतों के शोषण की अन्याय और अत्याचार पूर्ण प्रक्रिया बराबर जारी रहेगी।

मार्क्सवाद इस श्रेणी-संघर्ष को आवश्यक, फलप्रद और ऐतिहासिक तथा अनिवार्य समझता है। जब तक सम्पत्तिहीन मजदूरों की श्रेणी को छोड़कर शेष समस्त श्रेणियों—पूँजीपतियों की श्रेणी, मध्य-वर्ग और निम्न-मध्य-वर्गादि सब को नष्ट करके, सबको सम्पत्तिहीन मजदूरों की श्रेणी में बदल कर श्रेणी-

हीन समाज नहीं क़ायम किया जाता तब तक मार्क्सवादी इस श्रेणी-संघर्ष को कम करने के बदले उसे और भी तीव्र करने के, शोषक और शोषित वर्गों को आपस में लड़ाने के, पक्षपाती हैं।

मार्क्सवाद के अनुसार श्रेणी-संघर्ष का अर्थ है एक वर्ग का दूसरे वर्ग के खिलाफ़ लड़ने के लिए मैदान में उतरना। यह संघर्ष ही उनके मत में उस प्रगति का मुख्य साधन है जिससे समाज की काया पलट की जा सकती है। हेराक्लित के शब्दों में "संघर्ष ही सब घटनाओं की माँ है।" हैगल के शब्दों में "संघर्ष ही वह शक्ति है जो चीज़ों को हरकत देती है।" मार्क्स के शब्दों में "वर्ग-संघर्ष में प्रयुक्त बल अथवा शक्ति समाज के जन्म में दाई का काम करती है।"

मार्क्सवादी राजनीति

मार्क्सवादी राजनीति मार्क्सवाद के आर्थिक नियत-वाद के सिद्धान्त के अधीन है। मार्क्स के कथनानुसार राज की उत्पत्ति वैयक्तिक सम्पत्ति और सामाजिक सम्बन्धों की रक्षार्थ हुई। कार्ल मार्क्स की राय में समाज में जिस वर्ग के हाथ में उत्पादन के साधन होते हैं उसी के हाथ में राज-सत्ता या राजनैतिक स्वत्व समझिये।

"राज और राज्य क्रान्ति" नामक पुस्तक में लैनिन ने लिखा है कि वर्ग-स्वार्थों का सामञ्जस्य असम्भव होने के कारण ही राज की उत्पत्ति होती है। जहाँ कहीं दृश्य जगत में श्रेणी-संघर्ष में सामञ्जस्य नहीं हो सकता वहाँ जिस हद तक श्रेणी-संघर्ष का

सामञ्जस्य असम्भव होता है उसी हद तक राज-शक्ति का उदय होता है। ठीक इसी को उलट कर यों कहा जा सकता है कि राज का अस्तित्व इस बात को सिद्ध करता है कि श्रेणीगत स्वार्थों का उस समाज-विशेष में मेल नहीं हो सका है।

जहाँ राजनीति-विज्ञान के दूसरे बहुत से आचार्यों का सिद्धान्त यह है कि राज एक ऐसा यन्त्र है जो भिन्न-भिन्न तथा परस्पर विरोधी वैयक्तिक, श्रेणीगतादि स्वार्थों का सामञ्जस्य करता है वहाँ मार्क्स का कहना है कि राज वास्तव में समय-विशेष में प्रमुख श्रेणी का वह यन्त्र है जिससे वह दूसरे सब वर्गों पर अपनी प्रभुता क़ायम रखती है और सम्पत्ति के उत्पादन के साधनों पर एकमात्र अपना इज़ारा महफ़ूज़ रखती है।

इसी लिए मार्क्सवादियों का कहना है कि शोषित वर्गों को शोषण से मुक्ति उस समय तक नहीं मिल सकती जब तक कि वे हिंसात्मक क्रान्ति द्वारा शोषक-वर्ग के राज की मशीन को नष्ट नहीं कर देते। ऐञ्जिल्स का मत है कि राज जिस सार्वजनिक शक्ति–सेना, सशस्त्र पुलिसादि–की स्थापना करता है वह वास्तव में पूर्णतया सार्वजनिक शक्ति, जनता की शक्ति, का पर्य्यायवाची नहीं होता; वह जनता का स्वतन्त्रतापूर्वक काम करने वाला सशस्त्र संगठन नहीं होता। इनके मतानुसार स्थायी सेना और पुलिस राज-शक्ति के खास औज़ार होते हैं। तमाम राजों में हाकिमों की हिफ़ाज़त और उनके मान की रक्षा के लिए विशेष क़ानून होते हैं। मार्क्सवादियों का कहना है कि लोकतन्त्रीय प्रजातन्त्र में "पूँजी" की शक्ति सब से अधिक होती है क्योंकि

शासन का यही रूप पूँजीवाद का सर्वोत्तम सम्भव राजनैतिक कवच होता है।

इसलिए मार्क्सवादियों के वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त का चरम विकास यह है कि जब प्रोलीतेरियत इतना ताक़तवर हो जाता है अथवा जब वह ऐसा कर सकने के लिए उपयुक्त अवसर देखता है तब वह, ऐञ्जिल्स के शब्दों में, राजनैतिक शक्ति अपने हाथ में लेकर उत्पत्ति के समस्त साधनों को प्रोलीतेरियत की डिक्टेटर-शिप की सम्पत्ति को राज की सम्पत्ति क़रार दे देता है। पूँजीवादी शासन सत्ता को समाप्त कर देता है। अन्त में यह प्रोलीतेरियत शासन-सत्ता अपने आप मुरझाकर श्रेणी-हीन समाज की स्थापना के वसन्तागमन काल में अपने आप झड़ जाती है।

लैनिन ने ऐञ्जिल्स के इस सिद्धान्त पर टीका करते हुए कहा है कि राज-सत्ता के पतझड़ के सिद्धान्त को तोते की तरह दुहराने वाले दस हज़ार लोगों में नौ हज़ार नौ सौ नब्बे यह नहीं जानते कि इसके माने क्या हैं और बाकी दस में से नौ यह नहीं जानते कि जनता के स्वतन्त्र राज के माने क्या हैं। उसका कहना है कि केवल प्रोलीतेरियतों की राज-सत्ता ही अपने आप मुरझाती है और किसी प्रकार की राज सत्ता नहीं। पूँजीवादी राज-सत्ता की जगह प्रोलीतेरियत डिक्टेटरशिप हिंसात्मक क्रान्ति के बिना असम्भव है। लैनिन ने यह बात साफ़-साफ़ कह दी है कि प्रोलीतेरियत डिक्टेटरशिप दस-बीस बरस में ही नहीं मुरझा जायगी। अपने आप मुरझाने की यह प्रक्रिया काफ़ी लम्बा वक्त लेगी। लैनिन का कहना है कि साम्यवाद की उत्पत्ति

पूँजीवाद से है, उसका ऐतिहासिक विकास पूँजीवाद से ही होता है। साम्यवाद उस सामाजिक शक्ति के कार्य का सुफल होता है जिसको पूँजीवाद मथ देता है।※

मार्क्सवादी "जनराज" (People's State) को हास्यास्पद समझते हैं। वे केवल सम्पत्तिहीन मज़दूरों की डिक्टेटरशिप को ही ठीक समझते हैं। पार्लियामेन्टरी पद्धति के बारे में मार्क्स का कहना है कि पूँजीवादी लोकतन्त्रों में हर कुछ साल बाद पीड़ितों को यह अधिकार दिया जाता है कि वे उन लोगों को चुन लें जो पार्लियामेन्ट में जाकर उनका प्रतिनिधित्व तथा उनका दमन करें।

प्रोलीतेरियत की डिक्टेटरशिप में आज़ादी, नागरिक आज़ादी, वैयक्तिक आज़ादी, लिखने-बोलने, सभा करने की आज़ादी के लिए नहीं होती। ऐञ्जिल्स का कहना है कि प्रोलीतेरियत को अपने राज की ज़रूरत किसी की आज़ादी के लिए नहीं होती लेकिन अपने विरोधियों को कुचलने के लिए होती है। जब आज़ादी की बात करना सम्भव होता है तब तो राज स्वयं ख़त्म हो जाता है। प्रोलीतेरियत डिक्टेटरशिप के होते ही, उसकी पहिली अवस्था में यह भी मुमकिन नहीं कि मज़दूरों को उनकी मेहनत का पूरा फल दे दिया जाय। लैनिन ने भी यह चेतावनी दी है कि कम्यूनिज़्म की प्रारम्भिक अवस्था में न्याय और समता सम्भव नहीं। सम्पत्ति सम्बन्धी भेद और अन्याययुक्त भेद

※ A Hand book of Marksism P. 741.

इस अवस्था में भी रहेंगे।*

मार्क्सवाद समतावादी के पूर्ण अर्थ में साम्यवाद नहीं है। स्वयं मार्क्स का कहना है कि लोगों के अधिकार बराबर होने के बदले कम-ज्यादा होने चाहिए। वह लोगों की अपरिहार्य असमता का ध्यान रखता था। मार्क्स का कहना है कि न्याय समाज की आर्थिक अवस्था और तज्जनित सांस्कृतिक विकास से परे कभी नहीं उठ सकता।

लैनिन का कहना है कि जब तक राज है—फिर चाहे वह प्रोलीतेरियत डिक्टेटरशिप ही क्यों न हो—तब तक स्वतन्त्रता (वैयक्तिक या नागरिक) असम्भव है। जब स्वतन्त्रता होगी तब राज्य नहीं रहेगा। प्रोलीतेरियत डिक्टेटरशिप में अपनी मेहनत का पूरा फल पाने और सबको बराबर मजूरी दी जाने की स्वतन्त्रता भी सदैव सम्भव नहीं। लैनिन का तो यहाँ तक कहना है कि जो कोई प्रोलीतेरियत डिक्टेटरशिप की प्रारम्भिक अवस्था में ये वैयक्तिक सवाल पैदा करता है कि उसने मुझसे आध घंटा कम काम क्यों किया, या मुझे फलों से कम मजूरी क्यों मिली वह अपने पूँजीवादी अधिकारों के संकुचित मानसिक क्षितिज का ढिंढोरा पीटना है।

लैनिन ने यह भी साफ कर दिया है कि प्रोलीतेरियत डिक्टेटरशिप के शुरू में साम्यवाद का निम्न रूप समाजवाद ही सम्भव है। जीवन में नवीन में बच रहने वाला प्राचीन पग-पग पर हमारा

---

* A Hand book of Marksism P. 249.

सामना करता है; समाज में भी और प्रकृति में भी। लैनिन के मतानुसार कम्यूनिज्म तभी सम्भव हो सकता है जब लोग सामाजिक जीवन के आधारभूत नियमों का पालन करने के आदी हो जायँ। प्रोलीतेरियत डिक्टेटरशिप में तमाम नागरिकों को राज की मजदूरी पाने वाले कर्मचारियों की हैसियत में बदलना पड़ता है।*

लैनिन की राय थी कि प्रोलीतेरियत डिक्टेटरशिप को—मजदूर-राज को, राज की पुरानी मशीन को—क़तई नष्ट कर देना चाहिए और उसकी जगह अपनी नई मशीन क़ायम करनी चाहिए। इसलिए उसे पुलिस, फौज और नौकरशाही को एक करके, समस्त नागरिकों को सशस्त्र करके सब लोगों की वास्तविक सेना की सृष्टि करनी चाहिए।

मार्क्सवादी प्रोलीतेरियत और सबसे ज्यादा ग़रीब किसानों की क्रांतिकारी लोकतंत्रीय डिक्टेटरशिप को प्रोलीतेरियत की डिक्टेटरशिप नहीं मानते।†

मार्क्सवादी अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए नई लड़ाकू और क्रांतिकारी पार्टी क़ायम करने की जरूरत को मानते हैं। इस पार्टी को मजदूरों की अग्रगामी पार्टी कहते हैं। उनके मतानुसार इस पार्टी में मजदूरों के उन सर्वोत्तम लोगों को होना चाहिए जिन्हें अपने काम का अनुभव हो, जिनमें क्रान्तिकारी भावना हो तथा अपने ध्येय के लिए असीम भक्ति हो, जो अपने

---

* A Handbook of Marksism P. 707

† A Handbook of Marksism P. 781

आन्दोलन और क्रान्ति के सिद्धान्तों तथा नियमों को जानते हों और यह भी जानते हों कि जनता की राजनैतिक उदासीनता को किस तरह दूर किया जाय। मार्क्सवादियों की राय में ऐसी युद्धाल पार्टी यदि अपनी निश्चित पराजय को बचाना चाहती है तो उसे अपनी पार्टी में अनुभवी सेवकों का स्टाफ़, अधिकारी-कर्मचारी-मण्डल रखना चाहिए।

पार्टी में नेतृत्व (Organs of Leadership) की ऊँची-नीची श्रेणियाँ होती हैं और उसमें बहुमत का फैसला पार्टी के तमाम मेम्बरों को मानना पड़ता है। मार्क्सवादी केन्द्र से पार्टी के नेतृत्व के सिद्धान्त को मानते हैं। प्रोलीतेरियत की डिक्टेटरशिप की स्थापना तथा उसकी रक्षा ऐसी पार्टी के बिना सम्भव नहीं जिसका संगठन सुदृढ़ हो तथा जिसका अनुशासन लौह। और इस प्रकार का संगठन तथा अनुशासन उस वक्त तक असम्भव है जब तक फैसला हो जाने के बाद पार्टी में तथा उसके समस्त मेम्बरों में कार्य की पूर्ण और अखण्ड एकता न हो तथा संकल्प की एकता न हो।* लैनिन का कहना है कि जो जरा भी पार्टी के लौह अनुशासन को तोड़ता है वह वास्तव में शत्रु की सहायता करता है।† लैनिन की माँग है कि दलबन्दी को बिल्कुल जड़ से खोद डालना चाहिए और इस या उस प्लेटफ़ार्म के आधार पर बनाये गये तमाम दलों को फ़ौरन भङ्ग कर देना चाहिए। जो कोई उन दलों में शामिल हो उसे पार्टी की मेम्बरशिप से बिना

---

* A Handbook of Marksism P. 846.

† A Handbook of Marksism P. 851.

किसी शर्त के फौरन निकाल देना चाहिये। ऐसे मेम्बरों के निकाल देने से पार्टी शुद्ध होती है। किसानों, छोटे दुकानदारों और बुद्धि-जीवियों को पार्टी में लेने से दुविधा और अवसरवादिता का जन्म होता है। पार्टी को ऐसे अवसरवादी लोगों को निकाल कर अपनी आत्म-शुद्धि करनी चाहिये। ❀ लैनिन ने आगे इसी पुस्तक के आठ सौ उनसठवें पृष्ठ पर कहा है कि जो अच्छे कम्यूनिस्ट भी ऐसे लोगों से एकता की तरफ ढिल-मुल यकीन हों, उन्हें भी निकालना उपयोगी साबित होगा। पार्टी के अन्दर जरा सी दिचकिचाइट सब कुछ बरबाद कर देती है।

लेकिन मार्क्सवादी जब तक क्रान्ति का अवसर न आये तब तक मजदूरों की ट्रेड यूनियनों में घुसने तथा पार्लियामेन्टों के चुनावादि में भाग लेने, उनके चुनावों में स्वयं उम्मेदवार होने की नीति का समर्थन करते हैं। मार्क्सवाद की "हस्त पुस्तिका" के आठ सौ सतत्तरवें पृष्ठ पर यह लिखा है कि ब्रिटेन की कम्यूनिस्ट पार्टी को लाजिमी तौर पर पार्लियामेन्ट में हिस्सा लेना चाहिए क्योंकि वहाँ उनके लिए ज्यादातर सर्वसाधारण तक पहुँचना और पहुँच भी जायँ तो सर्व साधारण को अपनी बात सुनने के लिए राजी करना कठिन हो जाता है।

कम्यूनिस्टों का काम है कि वे व्यापक जन-साधारण का नेतृत्व करें क्योंकि अधिकतर सर्व-साधारण सुपुप्त, उदासीन और एकताहीन होते हैं। मार्क्सवादियों का कहना है कि राजनीति अथवा किसी भी संघर्ष में विजय अपने आप नहीं आती। उसे

❀ A Handbook of Marksism P. 853.

हाथ पकड़ कर लाना होता है। सही नीति बन जाने पर सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि सङ्गठन किस प्रकार किया जा रहा है। यह सङ्गठन ही सब बातों का—सही नीति के भाग्य तक का—फैसला करता है। पार्टी के अविश्वसनीय, अनस्थिर और पथ-भ्रष्ट मेम्बरों का निकालना मार्क्सवादी आवश्यक समझते हैं। उनकी राय में इस संगठन-कार्य में खास चीज यह है कि पार्टी का जो कुछ भी फैसला हो उसके पूरे होने का इन्तजाम हो तथा इस उद्देश्य के लिए सही कार्य-कर्त्ताओं का चुनाव किया जाय। जो लोग अपनी पुरानी सेवाओं के कारण पार्टी के उच्च पदों पर आरूढ़ हों उनको भी अगर वे अपनी उन सेवाओं के नाम पर पार्टी की आज्ञा तथा उसका अनुशासन न मानने का दावा करते हों तो बिना किसी हिचकिचाहट के निकाल देना चाहिए। हर पार्टी में कुछ ऐसे बातूनी लोग घुस आते हैं जो अपनी कभी खत्म न होने वाली बातों की बाढ़ में तमाम जीवित प्राणियों को डुबोकर मार देते हैं। ऐसे बकवादियों से भी पार्टी की रक्षा करना आवश्यक है।

मार्क्सवादियों का विश्वास है कि समस्त संसार में पूँजीवादी आर्थिक संगठन क़ायम करने के लिए यह पहली तथा आवश्यक (vital) शर्त है कि संसार में प्रोलीतेरियत डिक्टेटरशिप कायम हो।* राज का सोवियत स्वरूप पूँजीवादी लोकतन्त्र से बिलकुल भिन्न होता है। सोवियत राज में सिर्फ एक वर्ग की, प्रोलीतेरियत की, डिक्टेटरशिप होती है। सोवियत राज अपने

* A Handbook of Marksism P. 990.

वर्ग-शत्रुओं को समस्त राजनैतिक अधिकारों से वंचित कर देता है। वह प्रोलीतेरियत के मेम्बरों को, उनके नेतृत्व की हैसियत को सुदृढ़ करने के लिए, छोटे टुटपुँजिये किसानों से अधिक सुविधाएँ कुछ समय के लिए दे सकता है। ❀

सन् १६१६ में तृतीय इन्टरनेशनल का जो कार्य-क्रम तय हुआ था, उसके मुताबिक संयुक्त प्रदेश अमेरिका, जर्मनी और ग्रेट-ब्रिटेन जैसे बहुत अधिक विकसित पूँजीवादी देशों में शुद्ध प्रोलीतेरियत क्रान्ति की अवस्था थी; और स्पेन, पुर्तगाल, हौलैण्ड, हंगरी, बाल्कान इत्यादि जिन देशों में पूँजीवाद का विकास आधुनिक यानी नया था उनमें किसानों और प्रोलीतेरियत मजदूरों की सम्मिलित डिक्टेटरशिप का जमाना बताया गया था।

मार्क्सवादियों की राय है कि कम्यूनिस्ट इन्टरनेशनल की शाखाएं सिर्फ़ एक ही सङ्गठन की आज्ञा मानती हैं। वह है प्रोलीतेरियत का अन्तर्राष्ट्रीय संगठन। इसकी आज्ञा के मुक़ाबिले में वे अपने देश की आज्ञा नहीं मान सकते। यानी भिन्न-भिन्न देशों की कम्यूनिस्ट-पार्टियाँ अपने-अपने देश के राष्ट्रीय सङ्गठन के अनुशासन से आवद्ध नहीं हैं। वे अपनी इन्टरनेशनल के अधीन हैं।

कार्ल मार्क्स ने एक बात और बहुत साफ़ कह दी है कि यद्यपि मनुष्य अपने इतिहास का निर्माण स्वयं करता है लेकिन अपनी चुनी हुई परिस्थितियों में अपने मन मुताबिक नहीं, बल्कि उन परिस्थितियों में जो उसे अपने समय में देश कालावस्था

❀ A Handbook of Marksism P. 992.

प्रदत्त मिलती हैं, अतीत से स्थानान्तरित। प्राणी के मस्तिष्क में समस्त मृत सन्ततियों की परम्परा का बोझ रोग-कीटाणुओं की तरह लदा रहता है।

मार्क्स राज और क़ानून दोनों को जीवन की भौतिक अवस्थाओं से उगा हुआ मानता है। समाज में जिस वर्ग का आर्थिक प्रभुत्व होता है उसी सब से अधिक प्रभावशाली आर्थिक वर्ग का राज भी होता है।

मार्क्सवादी साम्राज्यवाद को पूँजीवाद का अत्यन्त विकसित रूप मानते हैं। लेनिन के शब्दों में साम्राज्यवाद पूँजीवाद की वह अवस्था है जब उत्पत्ति के साधनों पर थोड़े से पूँजीवादियों का इजारा—एकमात्र अधिकार—हो जाता है। इस अवस्था को वे राजस्व-पूँजीवाद की अवस्था कहते हैं। राज के फैसिस्टवादी रूप को वे पूँजीवादी शक्ति का अन्तिम रूप समझते हैं। उनका कहना है कि राजस्व-पूँजीवाद की अवस्था में पहुंच कर पूँजीवाद न सिर्फ राज को ही सैनिकवादी बना देता है बल्कि खुद भी सैनिकवादी हो जाता है।

कम्यूनिस्टों का इस बात में विश्वास नहीं कि पार्लियामेन्टरी चुनावों के शान्तिमय तरीक़ों के साथ आम शिक्षा-सम्बन्धी, आर्थिक तथा सहयोग-भाव की उन्नति से सामाजिक कायापलट हो सकती है। शान्तिकाल में संकट-काल की तैयारी करते हुए वे पार्लियामेन्टरी तरीकों से काम लेना, चुनाव के लिए खड़े होना, अपने प्रतिनिधि पार्लियामेन्ट में भेजना इत्यादि बातें करना मुनासिब समझते हैं परन्तु उनका कहना है कि ये पार्लियामेन्टरी

काम गौण काम हैं, ये पार्लियामेन्ट से बाहर क्रान्ति के सङ्गठन-कार्य के सहायक की तरह इस्तैमाल किये जा सकते हैं लेकिन उस क्रान्ति की तैयारी के असली काम की जगह नहीं ले सकते।

"लैनिनवाद" नामक पुस्तक के तेईसवें पृष्ठ पर स्तालिन ने लिखा है कि पूँजीवादी शासन में मजदूर आन्दोलन का असली सवाल, सम्पत्ति-उत्पादन के साधनों को अपने क़ब्ज़े में करने का सवाल, खुले संघर्ष, आम हड़ताल और प्रोलीतेरियत सर्व-साधारण के विद्रोह से, शक्ति यानी बल-प्रयोग से ही तय हो सकता है।

ताक़त अपने हाथ में लेने की हिंसात्मक क्रान्ति का प्रकार कैसा हो, इसे वे परिस्थितियों पर छोड़ देते हैं। आम तौर पर इस काम के लिए वे शहरी कारखानों में काम करने वाले सम्पत्तिहीन मजदूरों के सचेत अंश में से संगठित सैनिक और क्रान्तिकारी अल्पमत पर भरोसा करते हैं। उनका कार्य-क्रम यह है कि क्रान्ति के समय मजदूरों की कौंसिलों का सङ्गठन करके उनके द्वारा प्रमुख स्थानों पर, जैसे युद्ध का समान बनाने वाले कारखानों पर, शस्त्रागारों पर, प्रेसों, रेल, ट्राम आदि पर, तारघर, टेलीफोन आदि पर, बिजली-घर तथा पब्लिक इमारतों पर क़ब्ज़ा कर लेना चाहिए।

परन्तु वे जब तक पूरी तैयारी न हो तथा वक्त बिल्कुल मौजूँ न हो, पूरी तरह पक न गया हो तब तक क्रान्ति करना गलत समझते हैं क्योंकि उनका कहना है कि क्रान्ति की कोशिश के नाकामयाब होने पर क्रान्ति-विरोधी प्रतिक्रया शुरू

हो जाती है। ट्राटस्की के मत में क्रान्ति के दिन तथा घन्टे का फ़ैसला करने के लिए भिन्न-भिन्न वर्गों के पारस्परिक सम्बन्धों पर, आन्तरिक स्थिति पर तथा इस बात पर कि क्रान्ति करने वाले और क्रान्ति विरोधी लोगों की लड़ने की परम्परा व तैयारी कैसी है, पूरी तरह विचार किया जाना चाहिये।

उनका कहना है कि कुछ देशों तथा कुछ दशाओं में मज़दूर-वर्ग के बहुमत में क्रांतिकारी मनोवृत्ति पैदा करने के लिए उस देश की पार्लियामेन्ट में हिस्सा लेना चाहिए। मज़दूर-वर्ग में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन इस वर्ग के लोगों को उनके अपने राजनैतिक अनुभव द्वारा यह सिद्ध करके ही लाया जा सकता है कि पार्लियामेन्टरी चुनावादि के साधन समाज की काया पलट करने के लिए काफ़ी नहीं हैं। केवल प्रचार द्वारा मज़दूर-वर्ग अथवा सर्व-साधारण को यह विश्वास नहीं हो सकता। जब किसी देश की राजनैतिक अवस्था ऐसी हो जाय कि निम्न श्रेणी के लोग पुराने नेताओं के खिलाफ़ हो जायँ और उच्च-वर्गीय लोगों के लिए पुराने तरीक़े से काम करना शक्य न रहे तभी क्रान्ति विजयी अथवा सफल हो सकती है। यानी क्रान्ति की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि एक ओर शासक-वर्ग इतनी मुसीबत में हो कि उनके शासन में सङ्कट आ गया हो और दूसरी ओर मज़दूर क्रान्ति के लिए सब कुछ क़ुर्बान करने के लिए बेचैन हों।

जब क्रान्ति की लहर में ज्वार आ रहा हो, वह बढ़ रही हो, जब शासक-वर्ग असंगठित हो, सर्व-साधारण क्रान्तिकारी उबाल की अवस्था में हो, पूँजीवादी-वर्ग को छोड़कर दूसरे वर्गों की

सहानुभूति प्रोलीतेरियत-वर्ग की तरफ हो तथा सर्व-साधारण क्रान्ति और क्रान्ति के लिए ज़रूरी क़ुर्बानियाँ करने को तैयार हों तभी क्रान्तिकारीसंघर्ष का नेतृत्व किया जाना चाहिए। जब ऐसा समय आ जाय तब हड़ताल और सशस्त्र प्रदर्शन से शुरू करके अन्त में आम हड़ताल और सशस्त्र-विद्रोह से काम लेना चाहिए।

मार्क्सवाद की आलोचना

मार्क्सवाद के इन चारों मुख्य सिद्धान्तों में परस्पर अङ्गाङ्गी संबंध नहीं है। इनमें से किसी एक, दो या तीन को मानकर भी बाकी को या चौथे को सही माना जा सकता है। मार्क्सवाद के अनेक समर्थक और अनुयायी इनमें से कुछ सिद्धान्तों को मानते हैं कुछ को नहीं।

कुछ उदाहरण लीजिए। मार्क्स के प्रधान ग्रंथ "कैपीटल" के ऐवरीमैन लायब्रेरी द्वारा प्रकाशित अपने जी०पी०एच० के अनुवाद में जी० पी० एच० कोल महाशय ने मार्क्स के मूल्य संबन्धी सिद्धांत को सही और आवश्यक न मानते हुये भी उसके अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त को माना है, यद्यपि स्वयं मार्क्स अपने मूल्य-सिद्धांत की प्रवृत्ति को छोड़कर अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त की निष्पत्ति को मानने की ग़लती कभी न करता। "मार्क्स को समझने की तरफ" नामी अपनी पुस्तक में प्रोफेसर सिडनी हुक मार्क्स के मूल्य सम्बन्धी तथा अतिरिक्त मूल्य सम्बन्धी दोनों सिद्धान्तों को अनुमोदनीय नहीं समझते फिर भी व्यावहारिक कारणों से उनको चलने देने के लिए तैयार हैं।

'कार्ल मार्क्स' नामक पुस्तक के लेखक रैमंड पोस्टगेट साहब न तो मार्क्सवादी अर्थशास्त्र को मानते हैं न मार्क्स के द्वन्दात्मक प्रगतिवाद को ; फिर भी उस ऐतिहासिक भौतिकवाद को मानते हैं जो द्वन्दात्मक प्रगतिवाद से अलग किये जाने पर मार्क्सवादी रहता ही नहीं। साम्यवादी-दर्शन (The Philosophy of Communism) नामक पुस्तक के लेखक प्रोफेसर मैकमरे ने अपनी यह सम्मति प्रकट की है कि "सिद्धांत और व्यवहार" यानी ज्ञान और कर्म का मार्क्सवाद का सिद्धांत ही मार्क्सवाद का पूर्णतया आवश्यक सिद्धान्त है; लेकिन वे यह भूल जाते हैं कि यह सिद्धांत तो हिन्दुओं की भगवद्गीता, ईसाई-धर्म और फासिस्तवाद का भी सिद्धान्त है और अगर मार्क्सवाद में सिर्फ यही सिद्धांत पूर्णतया आवश्यक है तो मार्क्सवाद में कुछ रह ही नहीं जाता।

मार्क्सवाद को उसके अनुयायी द्वन्दात्मक भौतिकवाद और वैज्ञानिक समाजवाद के नाम से पुकारते हैं। मार्क्सवादी दर्शन वास्तव में इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या है। ऐंजिल्स का कहना है कि प्रकृति की प्रगति द्वंदात्मक है अध्यात्मक नहीं। परन्तु अब बीसवीं सदी का विज्ञान, दर्शन और इतिहास इस बात का समर्थन नहीं करता। राल्फ फौक्स द्वारा अनूदित "मार्क्सवाद और आधुनिक विचार" नामक पुस्तक में उसके एक दर्जन के करीब अपने अपने विषय के विशेषज्ञ लेखक इस बात में सर्व सम्मत हैं कि बीसवीं सदी के विज्ञान, दर्शन और इतिहास की विचारधारा का प्रवाह द्वन्दात्मक प्रगतिवाद के सिद्धांत

के सतत उन्नति के सिद्धांत के विरुद्ध है। बीसवीं सदी के अनेक सर्वमान्य विज्ञानाचार्य और बीसवीं सदी का भौतिक विज्ञान, जीव-विज्ञान, शरीर-विज्ञान, और विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान भौतिकवाद के विरुद्ध है। मार्क्सवादी इतिहास की भौतिक व्याख्या अर्थात् मार्क्सवादी दर्शन उन्नीसवीं सदी के उस वैज्ञानिक विश्व की कल्पना पर आधारित है जिसको अब आईंस्टीन के सापेक्षतावाद के सिद्धान्त ने तथा मण्डूक गति-सिद्धान्त ने और विद्युत् कणादि के आविष्कारों ने ग़लत मानकर छोड़ दिया है। "दर्शन-पथ-प्रदर्शन" नामक पुस्तक में सी० ई० एम० जोड ने लिखा है कि इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या और आर्थिक नियतवाद के लिए द्वन्द्ववाद अप्रासङ्गिक है और जहाँ वास्तव में अप्रासंगिक नहीं वहाँ मौजूँ है (पृष्ठ ४८७)। उनका कहना है कि मार्क्स का सक्रिय भौतिकवाद प्रयोजनवाद से अधिक मिलता-जुलता है। मार्क्सवाद में वैज्ञानिक भौतिकवाद का बहुत ही कम-नहीं के बराबर-अंश है (पृष्ठ ४६४)। इसी पुस्तक के पाँच सौ उन्तालीसवें पृष्ठ पर उन्होंने यह लिखा है कि भौतिकवाद सदाचार-शास्त्र के और सौंदर्य-शास्त्र के प्रतिकूल है। भौतिक विज्ञान में उसका आधार अपूर्ण है। तर्क द्वारा उसकी रक्षा नहीं की जा सकती। वह उन्नीसवीं सदी के लिए स्वाभाविक था, बीसवीं सदी उसकी जिन्दगी के माफिक नहीं।

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या "दैव" के भाग का कोई ध्यान ही नहीं करती। वह दैव की तथा इतिहास की घटनाओं को प्रभावित करने में महापुरुषों की शक्ति की, दोनों की अव-

हेलना करती है। उसकी आलोचना करते हुये सी० ई० एम० जोड ने अपनी "राजनीति और सदाचार के दर्शन की पथ-प्रदीपिका" नाम की पुस्तक के सात सौ पन्द्रहवें पृष्ठ पर लिखा है कि इतिहास में जो कुछ वास्तव में होता है वह यह है कि इतिहास की घटनायें किसी भी भौतिक सिद्धान्त की क्रिया व उसके अन्तर्गत रुख से नियत नहीं होतीं वल्कि ऐसी हजारों अप्रासंगिक तथा साँयोगिक वातों से प्रभावित होती हैं जिनकी उत्पत्ति का न तो हम पता ही लगा पाते हैं न जिनका विश्लेपण ही कर सकते हैं। इतिहास के प्रवाह की धारा को उसके विरुद्ध बहने वाली हजारों धारायें विफल करती हैं तथा हजारों विरोधी अथवा इधर उधर के झोंके उसके प्रवाह को विचलित करते हैं।

जाती साजिशें, वासनाएँ, यौनि-ईर्षा, शक्ति-प्रेम, अपूर्ण महत्त्वाकांक्षा, मानापमान के विचार, धार्मिक उत्साह, सुधारों का जोश, दलगत झगड़े, सार्वजनिक सेवा की निःस्वार्थ भावना—ये सब के सब अपने अपने अवसर पर इतिहास की घटनाओं का निर्णय कर जाते हैं। हम इनकी तथा विशेष अथवा असाधारण योग्यता सम्पन्न व्यक्तियों की शक्ति की अवहेलना नहीं कर सकते। मानव-इतिहास हजारों इत्तिफ़ाकों के धागों पर लटका हुआ है। स्पष्ट है कि उसके सम्बन्ध में यह कहना कि वह केवल भौतिकवादी व्याख्या के अनुसार प्रवाहित होता है,—तर्क-सम्मत नहीं।

अपनी "स्वतन्त्रता और संगठन" नामक पुस्तक में वर्ट्रीण्ड रशल ने ऐसे बहुत से उदाहरण दिये हैं जिनसे यह साबित किया

है कि इतिहास की बड़ी से बड़ी घटनायें ज़रा भी इधर-उधर हो जाने पर कुछ की कुछ हो जाती हैं। मसलन उनका कहना है कि अगर जिस जर्मन मिनिस्टर ने लैनिन के जर्मनी होकर रूस जाने का पासपोर्ट मंजूर किया वह चिड़चिड़ा होने की वजह से उसे न मंजूर करता तो ट्राटस्की के रूस की राज्य-क्रान्ति के प्रामाणिक इतिहासानुसार रूस में सोवियत राज नहीं क़ायम हो सकता था, क्योंकि उसे क़ायम करने का समस्त श्रेय लैनिन की विचक्षण बुद्धि को ही है।

बर्ट्राण्ड रशल का कहना है कि मानव इतिहास सतत प्रगतिशील नहीं है। उसमें ह्रास और पतन के उदाहरण भी कम से कम उतने ही अधिक और महत्त्व-पूर्ण मिलते हैं जितने उन्नति के। मार्क्स की प्रगति सम्बन्धी कल्पना उन्नीसवीं सदी की आशावादिता के सिवा और कुछ नहीं।

अपनी "शक्ति" नामक पुस्तक में बर्ट्राण्ड रशल ने पहले ही अध्याय में लिखा है कि कर्कीज (Xerqes) को न तो खाने की कमी थी, न कपड़ों की, न बीवियों की; फिर भी उसने ऐथिन्स पर हमला किया। न्यूटन ने जिस समय आकर्षण सिद्धान्त का आविष्कार किया उस समय उसे कोई आर्थिक चिन्ता न थी और न लैटर फ्रांसिस तथा लोवोला ने जो धार्मिक संघ स्थापित किये थे वे किसी आर्थिक कठिनाई को दूर करने के लिए नहीं स्थापित किये थे। उनका कहना है कि पुराने अर्थ-शास्त्री और मार्क्स दोनों ही इस बात में ग़लती पर हैं कि आर्थिक स्वार्थ ही समस्त सामाजिक प्रगति का प्रधान कारण है। उनका कहना है कि व्यक्ति ही नहीं,

समाज भी सम्पत्ति-उपार्जन की लालसा को छोड़ कर प्रभुता प्राप्त करना अधिक पसन्द करते हैं। सम्पत्ति को वे शक्ति के साधन स्वरूप भले ही उपार्जित करें परन्तु उनका मौलिक हेतु धन कमाना नहीं, शक्ति प्राप्त करना होता है। शक्ति प्राप्त करने के लिए वे सम्पत्ति का मोह छोड़ सकते हैं। मार्क्स की इस ग़लती को वे महज़ सैद्धान्तिक ग़लती नहीं मानते। उनका कहना है कि इस ग़लती का व्यावहारिक दुष्परिणाम यह होता है कि आजकल की मुख्य मुख्य घटनाओं को हम क़तई ग़लत दृष्टिकोण से देखते हैं। उन्होंने यह दावा किया है कि प्राचीन और अर्वाचीन समस्त इतिहास की सही २ व्याख्या इस सिद्धान्त को मान कर की जा सकती है कि शक्ति-उपासना महत्त्व-पूर्ण सामाजिक क्रियाओं का प्रमुख कारण थी।

बर्ट्रॉण्ड रशल के इस दावे को प्रचण्ड विद्वान स्पैंगलर ओसवाल्ड ने "पश्चिम का ह्रास" नामक पुस्तक में प्रचुर प्रमाणों से पूर्णतया सिद्ध कर दिया है। उसने यह भी सिद्ध कर दिया है कि विश्व का विकास और उसकी प्रगति केवल सीढ़ी दर सीढ़ी होने वाला, टेढ़ा-मेढ़ा, अनन्त नहीं बल्कि वह हिन्दू अध्यात्मवाद के सिद्धान्तानुसार चक्रवत् होती है अर्थात् कुछ समय तक विकास होता है लेकिन जब वैभव अथवा विकास की प्रक्रिया अथवा उसका कार्य पूरा हो जाता है तब प्रलय की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। इस प्रकार प्रत्येक संस्कृति-सभ्यता का जन्म, उसका विकास और अन्त में विनाश होता रहता है। डाक्टर लैङ्गडन ब्राउन का कहना है कि विकास में व्यक्ति या अणु-

गुच्छक का आकार नहीं बढ़ता बल्कि इकाई और संगठन की वृद्धि होती है। विकास वह प्रक्रिया है जिसमें सदा बढ़ने वाली भिन्न-भिन्न और बहुसंख्यक इकाइयाँ अधिक सम्पन्न और अधिक व्यापक कणों में सुगठित होती हैं। जीवन के प्रारम्भिक स्वरूप एक अणु-गुच्छक वाले थे लेकिन अब व्यक्ति अणु-गुच्छकों के उपनिवेश होते हैं।

द्वन्दात्मक भौतिकवाद की आलोचना करते हुये ओलैफ स्टैप लेडन ने "दर्शन और जीवन" नामक पुस्तक में पहले चार सौ पैंतीसवें पृष्ठ पर यह लिखा है कि भौतिकवाद का एक दुष्परिणाम यह हो रहा है कि यूरुप में दया, कोमल-चित्तता, सहिष्णुता आदि सद्गुणों के स्थान पर क्रूरता का कोप हो रहा है। सब देशों में पुलिस की ताक़त बढ़ रही है और कुछ पढ़े-लिखे लोग खूनी खेलों-साँड़ों की लड़ाई वगैरः में आनन्द लेने लगे हैं। प्रगति कृपा के स्थान पर कड़ाई की ओर हो रही है। चार सौ अड़तीसवें पृष्ठ पर उन्होंने लिखा है कि आर्थिक नियतवाद हमें मार्क्सवादी श्रेणीहीन समाज के स्वर्ग की ओर ले जाने के बदले फ़ासिस्तवाद की ओर ले जा रहा है। फ़ासिस्तवाद का उदय पूँजीवादी देशों में ही होता है। अगर आर्थिक नियतवाद की इस प्रगति को न रोका गया तो मानव-जाति नष्ट हो जायगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मार्क्सवादी-दर्शन, द्वन्दात्मक भौतिकवाद न ज्ञानानुमोदित है, न विज्ञान-सम्मत। वह मार्क्सवादी मजहब मात्र है। वैज्ञानिक बुद्धि-सम्पन्न अँग्रेज और अमेरिकन भौतिकवाद के आदिम मूढ़ विश्वास को छोड़ते जा

रहे हैं। परन्तु श्रद्धालु रूपी उन्हें अपनाये हुये हैं। मानव-जाति विज्ञानियों की सुनिश्चित सम्मति है कि स्वार्थी-अर्थ लोलुप अर्थात् आर्थिक मनुष्य की कल्पना कपोल-कल्पित है। वास्तव में संसार में ऐसा कोई प्राणी नहीं। फिर भी पूँजीवादी अर्थ-शास्त्रियों की इसी कपोल-कल्पना को मार्क्सवादी अपने दार्शनिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक समस्त सिद्धान्तों का पूरे मार्क्सवाद का प्रधान आधार माने हुए हैं। मानव-जाति विज्ञानियों ने ऐसे अनेक मानव समूहों, जातियों और समाजों को खोज निकाला है जो केवल काम के आनन्द के लिए काम करते हैं, धन, रोटी या जीविका-मात्र के लिए नहीं।

मार्क्सवाद का श्रेणी-संघर्ष का सिद्धान्त एकांगी है। ठीक वैसे ही, जैसे डार्विन का जीवन-संघर्ष का। जैसे प्रकृति में संघर्ष और सहयोग दोनों प्रक्रियायें निरन्तर सर्वत्र-सर्वदा होती रहती हैं और इनमें से एक प्रक्रिया-संघर्ष की प्रक्रिया को देखकर तथा उसके बहुत से प्राकृतिक उदाहरण देकर डार्विन ने यह मत स्थिर किया कि विश्व की प्रक्रिया अथवा जीवन संघर्षमय है और ठीक इसके विपरीत प्रिंस कोपट्क्नि ने खेतों, कारखानों और प्राकृतिक जीवन के, पशु-पक्षी जगत् के उससे भी अधिक प्रमाण देकर यह सिद्ध किया है कि पारस्परिक सहयोग की प्रक्रिया भी संघष की प्रक्रिया से कम नहीं है। उसी तरह मानव वर्ग अथवा श्रेणियों में संघर्ष के साथ-साथ सहयोग भी चलता रहता है। भिन्न-भिन्न वर्ग एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न अथवा प्रतिकूल नहीं होते। एक ही व्यक्ति अथवा परिवार जो आज एक

वर्ग में है कल दूसरे वर्ग में हो जाता है। श्रेणी की कल्पना भावना-मात्र है, वह व्यक्तियों पर नहीं, औसत पर आधारित है और औसत के सम्बन्ध में हिन्दुस्तान में एक बहुत मजेदार कहानी प्रचलित है। एक पटवारी अपनी बीबी-बच्चों के समस्त परिवार के साथ कहीं जा रहा था कि रास्ते में नदी पड़ी। नाव थी नहीं। नाप-जोख के विशेषज्ञ तथा अभ्यस्त निपुण पटवारी ने झट नदी के पानी की गहराई की औसत का हिसाब लगाकर तय किया कि पानी घोंटू-घोंटू है। उसने परिवार से कहा तुम सानन्द नदी पार चले जाओ। विश्वासी परिवार बेधड़क नदी में बढ़ता चला गया। बीच में नदी में लम्बा-चौड़ा गड्ढा था वहाँ जाकर सब परिवार डूब गया। पटवारी को बड़ी चिन्ता हुई। उसने अपने हिसाब को फिर जाँचा। औसत का हिसाब सोलहो आने सही निकला। तब बेचारा पटवारी बोला,' हिसाब ज्यों का त्यों, कुनवा डूबा क्यों ?" मार्क्सवादी श्रेणी संघर्ष का जो सिद्धान्त व्यक्तित्व की उपेक्षा करके औसतों पर क़ायम है। वह भी अङ्क-शास्त्र के लिए कितना ही क्यों न हो जीवन-सरिता में कम्यूनिस्टों के श्रेणी-संघर्ष के सिद्धान्त के कुनबे को डुबो देता है।

वैसे भी, भिन्न-भिन्न वर्ग उतने विरोधी नहीं जितने मार्क्स-वादी उन्हें बताते हैं। एक विद्वान के कथनानुसार सामन्तशाही पूँजीवाद का विरोधी नहीं उसका अविकसित रूप है। दोनों का संघर्ष दो श्रेणियों का संघर्ष न होकर गृह-कलह या बिरादरी का झगड़ा सा होता है। इंगलैंड में आज भी सामन्तशाही का सर्वथा विनाश होने के बदले बड़े बड़े जमींदारों और पूँजीपतियों

में गठ-बन्धन है। दोनों शीरो-शकर की तरह मिले हुए हैं।

कौट्स्की के कथनानुसार यह भी आवश्यक नहीं कि पूँजीवाद का आपसी-संघर्ष अथवा साम्राज्यवादी युद्धों से पतन ही हो जाय। यह असम्भव नहीं कि पूँजीवाद एक नई अवस्था में विकसित हो यानी साम्राज्यवाद से भी ऊँची अवस्था में, संसार के शोषण के लिए भिन्न-भिन्न साम्राज्यों के पारस्परिक सम्मिलित सहयोग की अवस्था में, साम्राज्यों के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की अवस्था में संगठित हो। राजस्व पूँजीवाद का अन्तर्राष्ट्रीय संगठन तो बहुत पहिले हो चुका था परन्तु द्वितीय महायुद्ध ने कौट्स्की की साम्राज्यों के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की भविष्यवाणी भी सही साबित कर दी। इस समय इंगलैंड और अमेरिका के साम्राज्यों का संगठन इसी प्रकार का संगठन है और उन में से कुछ अभी से खुल्लम-खुल्ला इस बात की घोषणा करने लगे हैं कि लड़ाई के बाद ये दोनों दुनियाँ भर पर राज्य करेंगे अर्थात सब देशों का सम्मिलित शोषण करेंगे। यद्यपि पैटरसन ने यह बात अप्रेल १९४४ में कहते हुये ब्रिटेन और अमेरिका के साथ रूस का भी नाम लिया था परन्तु इतना तो बच्चा भी जानता है कि रूस का नाम तो लड़ाई के दौरान में उसकी जरूरतों से मजबूर होकर लिया जारहा है वैसे इन दोनों साम्राज्यों विशेषकर अमेरिका के पूँजीपतियों में रूस के प्रति कम रोष या घृणा का भाव नहीं हैं।

संसार को अनेक विद्वान विचारकों का, जिनमें से बहुत से सर्वथा सच्चे समाजवादी हैं पूँजीवादी नहीं, यह कहना है कि

कम्यूनिस्टों का यह विश्वास कि आर्थिक विकास की प्रक्रिया के परिणाम स्वरूप अन्त में कम्यूनिस्ट पार्टी की कोशिश पूँजीवाद का पतन होगा और प्रोलीतेरियत की विजय होगी, अति विश्वास मात्र है। उन्होंने शोषक और शासक वर्ग की दमन शक्ति तथा सर्व साधारण की जड़ता और अज्ञानता पर समुचित ध्यान नहीं, इन दोनों की उपेक्षा की है। उनका कहना है कि इस वात की भी कोई गारंटी नहीं है कि प्रोलीतेरियत की डिक्टेटरशिप अन्त में मुरझा ही जायगी। अभी तक तो वह मुरझाने के वजाय और भी हरी भरी हो रही है और लक्षण यह दिखाई देते हैं कि रूस की कम्यूनिस्ट पार्टी महन्तों के मठ में परिणित हो जायगी। रूस के और समस्त संसार के इतिहास की पिछले दस वर्ष की समस्त घटनाएँ इन विद्वानों के कथन का समर्थन करती हैं।

अपने को वैज्ञानिक समाजवादी अथवा द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी कहने वाले मार्क्सवादियों का यह दावा है कि हम ऐसी किसी वात को मानने के लिए तैयार नहीं हैं जो प्रयोग से प्रमाणित और प्रदर्शित तथा निरीक्षण और परीक्षण से सिद्ध न की जा सके। लेकिन इनसे कोई पूछे कि प्रोलीतेरियत की डिक्टेटरशिप के मुरझा जाने का सुहावना स्वप्न किस प्रयोग से कहाँ प्रमाणित किया गया है? किस निरीक्षण और परीक्षण से कब कहाँ सिद्ध किया गया है? इस डिक्टेटरशिप के मुरझा जाने के वाद जिस श्रेणी-हीन स्वर्गीय समाज की वे कपोल-कल्पना करते हैं, जिसमें न हिंसा रहेगी, न श्रेणी, न श्रेणी-संघर्ष, उस कल्पना को क्या वे किसी प्रयोगशाला में प्रमाणित तथा

प्रदर्शित करके दिखा सकते हैं ? उसका कहाँ निरीक्षण और परीक्षण उन्होंने किया है या अब करा सकते हैं ? उनके ये विश्वास धार्मिक विश्वास और अन्ध-विश्वास नहीं तो और क्या हैं ?

मार्क्स के बाद संसार की, शासकों की, शस्त्रों की शक्ति, संहारक शक्ति में इतनी गुनी और इतनी अधिक वृद्धि हुई है कि जिसका मार्क्स को ख्वाब में भी ख़याल न था। इसके फलस्वरूप हिंसात्मक संघर्ष में प्रोलीतेरियत की विजय असम्भव होगई है। इससे बहुत पहिले बर्ट्राण्ड रशलादि अनेक विद्वानों का कहना था कि साम्राज्यवादी युद्धों अथवा श्रेणी-संघर्षजन्य गृह-युद्धों से सभ्यता और संस्कृति की वृद्धि होने की जगह पर उसका सर्वनाश होकर बर्बरता की अवस्था का पुनरागमन हो सकता है। एच० जी० वेल्स ने अपनी "होमो समीयन (मानव) का भाग्य" नामक पुस्तक में यही मत प्रकट किया है। जब से हवाई जहाजों द्वारा बम बरसाने तथा मशीनगन चलाने का चलन हुआ है तब से तो अगर फ़ौज भी रैंजीमेन्ट या नेवी भी प्रोलीतेरियत जनता के विद्रोह में उसका साथ दे तो कुछ सौ हवाई जहाज समस्त फ़ौज व हड़तालियों—विद्रोहियों का संहार कर सकते हैं। विशेषकर इस लिए क्योंकि समस्त देशों में हवाई जहाजों के चालकों के पद पर मध्यवर्गीय लोग ही भरती किये जा रहे हैं। और इस वर्ग के लोगों को प्रोलीतेरियत वर्ग से कोई सहानुभूति नहीं होती।

मार्क्सवादी मानव प्रकृति की औसत के आधार पर अपने सिद्धान्त स्थिर करते हैं परन्तु ऐसा करते हुये वे यह भूल जाते

हैं कि मानव-प्रकृति की औसत ईश्वर से दूर और पशु के समीप है। उसकी औसत के आधार पर मानव-समाज की रचना की समस्त योजनायें वास्तव में पशु-समाज की रचना की योजनायें सिद्ध होंगी, और जब उस पशु समाज में मानवाधिकारों का प्रश्न उठेगा तब निट्शे की पशु-परिषद् के सम्बन्ध में कही हुई यह युक्ति लागू होगी कि जिस समय खरगोश महाशय अपने अधिकारों की रक्षा पर गरमागरम व्याख्यान दे रहे थे तब शेरों ने पूछा कि अपने पँजे कहां छोड़ आए? रक्षा काहे से करोगे? अधिक क्रूर और हिंसक शासक और शोषित-वर्ग भी हिंसात्मक संघर्ष-द्वारा स्वाधिकार-रक्षा का स्वप्न देखने वाले मार्क्सवादियों से यह पूछ सकते हैं कि आप के शस्त्रास्त्र कहाँ हैं?

इसी तरह, वाल्टेयर की नक़ल करते हुए, मार्क्सवादी धर्म अथवा अध्यात्म-वाद का मखौल उड़ाते हुये यह कहते हैं कि हमें दूसरे जन्म के भूगोल से कुछ मतलब नहीं, हमें तो इस जीवन के अर्थ-शास्त्र से ही काम है। परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि उनके जीवन का यह अर्थ-शास्त्र मानव-समाज को उनके कल्पित श्रेणी-हीन-समाज या साम्यवाद के स्वर्ग में ले जाने के बजाय उन्हें फासिस्ट-वाद के रौरव-नरक में ले जा रहा है। उनका आर्थिक नियत-वाद मानव-समाज को समुन्नति पथ पर प्रेरित करने के बदले सर्वनाश की सड़क पर, मानव-समाज को शैशव कालीन पशु-अवस्था की ओर ले जा रहा है।

बहुत से लोग हिन्दी में कम्यूनिज्म का अनुवाद साम्यवाद पढ़कर यह समझते हैं कि मार्क्सवादी-साम्यवाद में समता ही

समता रह जायगी, किसी प्रकार की विषमता नहीं रहेगी। वे यह भूल जाते हैं कि सबको क़ानून की निगाह में एकसा समझने की, सबको अपनी प्रकृति-प्रदत्त योग्यतानुसार अथवा गुण-कर्म-स्वभावानुसार काम करने तथा अपने व्यक्तित्व और अपनी सर्वोत्तम शक्तियों का विकास करने की समता, समाज की ओर से सब के लिए खाने-पीने, पहनने, शिक्षादि जरूरतों के प्रबन्ध की समता के अतिरिक्त और किसी प्रकार की समता सम्भव नहीं है। उन्हें इस बात का पता भी नहीं कि कोई भी यह मानने को तैयार नहीं है कि सब लोगों की बौद्धिक अथवा आत्मिक योग्यता एकसी होती है। न यही कि इसलिए समस्त अच्छे-बुरे, उचित-अनुचित का निर्णय महज़ संख्या से किया जाना चाहिए। समता-सम्बन्धी इस विश्वास को लगभग सभी लोग मूढ़ विश्वास समझते हैं। मनोविज्ञानियों की राय है कि भीड़ में मनुष्य और भी अधिक उग्र क्रूर और मूर्ख हो जाता है। अफ़लातूँ और सन्तायन का कहना है कि असमानों की असमानता सबसे बड़ी असमानता है। शेर और बैल के लिए एक ही क़ानून होना दो में से किसी एक के लिए अवश्य अत्याचार-पूर्ण होगा। स्वयं मार्क्सवादी इस प्रकार की समता को नहीं मानते। लैनिन का कहना है कि यह दावा कि हम समस्त लोगों को एक दूसरे के बराबर बना देना चाहते हैं सही नहीं है। वह एक थोथा वाक्य-मात्र है जो कुछ बुद्धि-वादियों का मूर्खतापूर्ण आविष्कार है। स्तालिन का कहना है कि समता की बच्चों की सी कल्पना हमारे वाम-पक्षी मूढ़ों (Leftist blackheads)

की सृष्टि है।* स्तालिन सबको बराबर मजदूरी देने के सिद्धान्त का विरोधी है। उसने इस समता-वाद को नष्ट (liquidate) करने की घोषणा की और कहा कि हमें ऐसे निठल्ले व्यक्तियों को अलग फेंक देना चाहिए।

"विश्व इतिहास की रूप-रेखा" नामक पुस्तक में एच०जी० वेल्स ने आठ सौ उन्नीसवें पृष्ठ पर लिखा है कि "किसी पद दलित वर्ग की संख्या कितनी ही अधिक क्यों न हो, उस पर बीतने वाली मुसीबतें कितनी ही ज्यादा क्यों न हो, जब तक उनमें किसी एक व्यापक-भाव से प्रेरित एकता का विकास नहीं होता तब तक वह कोई कारगर विरोध नहीं कर सकता। और किसी राजनैतिक प्रक्रिया के मुक़ाबिले में लोकप्रिय राजनैतिक आन्दोलनों के लिए पढ़े-लिखे मनुष्य और विचारसम्पन्न मनुष्यों का नेतृत्व अधिक आवश्यक है। साधारण आदमी, किसान वगैरः को बड़े-बड़े सार्वजनिक मामलों का कुछ अनुभव नहीं होता। राजनीति में उनके अस्तित्व के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें पढ़े-लिखे, मनुष्यों की सेवा तथा उनका पथ-प्रदर्शन मिले।

इस पुस्तक के नौसौ छत्तीसवें पृष्ठ से लेकर नौसौ उन्नीसवें पृष्ठ तक उन्होंने मार्क्सवाद की तीव्र आलोचना की है। कहा है कि "मार्क्स ने अपने शब्दों का प्रयोग बड़ी असावधानी से किया तथा उनका चुनाव बुरा किया। उसके शब्दों से तो उसके भाव ही अच्छे थे। मार्क्सवादियों ने रूस के अलावा दूसरे देशों में जितने विद्रोह किये सब असफल हुये। पूँजीवाद की दीवालें

---

*A Handbook of Marksism P. 939 & 940-P.949.950

हिलीं जरूर लेकिन हिल-हिलाकर अपनी जगह पर क़ायम रहीं। लैनिन का यह सिद्धान्त कि अल्प मत में रहते हुये, देश के बहु-मत की सम्मति विरुद्ध होते हुए भी युद्धालु प्रोलीतेरियत को, शासन की बागडोर सम्भव हो तो हिंसात्मक क्रान्ति से अपने हाथ में ले लेना चाहिए सर्वथा लोकतन्त्र के विरुद्ध है। रूस में आज भी प्रोलीतेरियत का शासन नहीं, कम्यूनिस्त पार्टी का शासन है और अब कम्युनिस्ट पार्टी का शासन भी बराय नाम रह गया है। वास्तव में वहाँ एक व्यक्ति स्तालिन की वैयक्तिक डिक्टेटर-शिप है। उनकी राय में लैनिन किसी ज़ार से कम स्वेच्छाचारी न था, हाँ, ज़ारों में लैनिन के बराबर अक्ल न होने के कारण वे उतनी स्वेच्छाचरिता नहीं कर सकते थे जितनी लैनिन ने की। समाज-वाद के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि उसके सिद्धान्त अपूर्ण हैं और वह आपसी मत-भेदों और सन्देहों के कारण छिन्न-भिन्न हो रहा है। इनका यह भी कहना है कि समाज-वादी सिद्धान्त अधूरा है। उसने सुलभ-शासन की पूरी योजना आज तक नहीं बना पाई है। साख तथा विनिमय के सही तरीकों के लिए भी समाजवादियों के पास कोई योजना नहीं है।

मार्क्सवाद में एक मौलिक, आधारभूत, खराबी यह है कि वह पूँजीवादी प्रथा का अन्त चाहता है, पूँजीवाद की प्रणाली का नहीं, यानी संसार में जिस चीज़ को पूँजीवादी सबसे अधिक महत्व देते हैं तथा मूल्यवान समझते हैं उसी को मार्क्स-वादी भी सबसे अधिक महत्व देते हैं तथा सब से अधिक

मूल्यवान समझते हैं यानी धन को।

हिंसात्मक साधनों से, प्रोलीतेरियत-क्रान्ति से ही, समाजवादी शासन-व्यवस्था कायम हो सकती है मार्क्सवादियों का यह सिद्धान्त सर्वथा सही नहीं है। उनमें से बहुत से यह मानने लगे हैं कि समाजवाद क़ायम करने के उद्देश की पूर्त्ति के उपाय भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न होंगे। सब देशों के लिए कोई एक ही उपाय लागू हो नहीं सकता। बड़े से बड़े मार्क्सवादी तक को यह स्वीकार करना पड़ा कि इङ्गलैण्ड और अमेरिका में समाजवाद की स्थापना शांतिमय तरीकों से हो सकती है। पूँजीवाद के पतन और प्रोलीतेरियत की विजय के सम्बन्ध में मार्क्सवादियों का जो अति-विश्वास था वह भी ग़लत साबित हो चुका है। खुद ऐञ्जिल्स को यह कहना पड़ा है कि इतिहास ने हमें ग़लत साबित किया। यह दिखा दिया कि १८४८–५० में तुरन्त समाजवादी क्रान्ति हो जाने के सम्बन्ध में हमारी जो राय थी वह भ्रम-मात्र थी।

कुछ समाजवादियों का कहना है कि यद्यपि मार्क्स और "कट्टर" मार्क्सवादी भौतिकवादी हैं परन्तु इतिहास की भौतिक व्याख्या करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि हम विश्व और मनुष्य के विकास के सम्बन्ध में भौतिकवाद को मानें। इसी तरह बहुत से समाजवादी जो मार्क्स की बहुत सी बातों को मानते हैं वे यह कहते हैं कि मार्क्स का मूल्य और अतिरिक्त मूल्य सम्बन्धी सिद्धान्त अपूर्ण है और वह अर्वाचीन समाज-

वादी दर्शन का आवश्यक भाग नहीं है ?*

मार्क्सवाद के सम्बन्ध में यह बात ध्यान रखने योग्य है कि सब समाजवादी मार्क्सवादी नहीं हैं। बल्कि सही बात तो यह है कि लगभग सभी समाजवादी कम्यूनिज्म-मार्क्सवाद-साम्य-वाद को अस्वीकार करते हैं। समाजवाद और साम्य-वाद में मोटे तौर पर दो मुख्य भेद हैं। एक तो यह कि समाजवादियों का सिद्धान्त है कि हर एक को वह जितना और जैसा काम करता है उसी के मुताबिक मजूरी मिलनी चाहिए जब कि साम्य-वादियों का सिद्धान्त है कि हर एक से काम तो उसकी सामर्थ्य के अनुसार लिया जाय लेकिन हर एक को मजूरी उसकी जरूरत के मुताबिक दी जाय। दूसरा भेद यह है कि समाज-वादी साम्यवादियों के इस सिद्धान्त को नहीं मानते कि समाजवाद की स्थापना के लिए प्रोलोतेरियत की हिंसात्मक क्रान्ति और उस क्रान्ति के सफल होने पर उनकी डिक्टेटरशिप आवश्यक है। समाजवादियों का विश्वास है कि शनैः शनैः सामाजिक अन्तः करण और आर्थिक तथा राजनैतिक विकास के फलस्वरूप पार्लियामेन्टरी पद्धति से ही समाज-वाद की स्थापना हो सकती है और ऐसा समय आने पर भी प्रोलोतेरियत की डिक्टेटरशिप की कोई आवश्यकता नहीं है। इसके अतिरिक्त सब साम्यवादी भी एक मत नहीं है। अपने को मार्क्सवादी साम्यवादी कहने वालों में भी कई दल तथा अनेक मतमतान्तर हैं। तृतीय और

---

* A History of Socialist Thought By Harry. W. Laider P. 204.

चतुर्थ इन्टर नेशनलों का, स्तालिन तथा ट्राट्स्की के अनुयायी मार्क्सवादी साम्यवादियों का गहरा वैमनस्य जग-जाहिर है।

कहने का मतलब यह कि मार्क्सवाद के आलोचक सब पूँजीवादी या पूँजीवादियों के पक्षपाती ही नहीं हैं। पूँजीवाद का मार्क्सवादियों और स्तलिनवादियों से भी अधिक विरोध करने वाले उसके सिद्धान्तों तथा साधनों की आलोचना करते हैं, उन्हें सदोष मानते हैं।

समाज-वादियों का कहना है कि हिंसात्मक क्रान्ति युद्धादि राष्ट्रिय दुर्भाग्यों के समय ही सफल हो सकती है। हिंसात्मक क्रान्ति को ही समाज-वाद की स्थापना का एक-मात्र साधन बताने वाले मार्क्सवादियों की दलीलों का उत्तर देते हुये बर्ट्रान्ड रशल ने Bolshevism in Theory and Practice नामक पुस्तक में यह लिखा है कि यदि पूँजीवादियों का प्रचार जनता को साम्यवादी होने से रोक सकता है तो उनके कानून और उनकी पुलिस तथा फौज कम्यूनिस्टों को उनकी ताक़त छीनने से क्यों नहीं रोक सकती? यह कैसे मान लिया जाय कि जो कम्यूनिस्ट खुले प्रचार द्वारा वोटरों को अपने पक्ष में नहीं कर सकते उन्होंने गुप्त प्रचार से खुश्की, समुद्री और हवाई फौजों को अपने पक्ष में कर लिया था। रूस में फौजें हारी हुई थी, इसलिए उन्होंने विद्रोह किया। इसके विपरीत जर्मनी में फौजों ने नहीं नागारिकों ने विद्रोह किया।

अमेरिकन समाजवादी नेता मोरिस हिलक्विट ने "मार्क्स से लेकर लैनिन तक" नामक किताब के नौ सौ चालीसवें पृष्ठ पर

लिखा है कि जनता में व्यवस्थित रूप से हिंसा की सम्भावित आवश्यकता के विचार का प्रचार करने में कोई बुद्धिमानी नहीं, न उसकी कोई आवश्यकता ही है। अपने उद्देश्य की प्राप्ति के वर्त्तमान साधन या भावी आवश्यकता के रूप में भी हिंसा के प्रचार को छोड़ कर मार्क्सवादी समाजवादियों ने ठीक ही किया है। "कार्य द्वारा प्रचार" के ढंग की हिंसा की और मजदूरों को वक्त से पहिले क्रांतिकारी विद्रोह की बातें मार्क्स की किताबों में नहीं मार्क्स के विरोधी हिंसात्मक अराजकतावादी बाकुनिन की किताबों में मिलती हैं।

समाजवादियों का कहना है कि यह सिद्धान्त कि क्रांति गृहकलह से ही हो सकती है ऐतिहासिक दृष्टि से ग़लत है। फ़िनलैंड, जर्मनी, आस्ट्रिया, हँगरी वग़ैरह के १६१४-१६१८ तक के युद्ध के बाद जो समाजवादी क्रांतियां होती हैं उनमें भौतिक बलप्रयोग क़तई नहीं करना पड़ा था या बरायनाम करना पड़ा था। रूस में नवम्बर में जो बोल्शविक क्रांति हुई उसकी बाबत स्वयं लैनिन की सरकार ने यह कहा कि इतनी कम ख़ून खराबी किसी बिरले ही अवसर पर हुई होगी जितनी इस क्रांति में हुई। जर्मनी, आस्ट्रिया, हँगरी में बिल्कुल रक्तहीन क्रांतियाँ हुईं। समाजवादियों का कहना है कि रूस में सोवियत सरकार संसार के इतिहास में क्रूरतम दमन करने के बाद भी वहाँ साम्यवाद स्थापित नहीं कर सकी।

नौरमैन एञ्जैल का कहना है कि रूस में आतंक की साम्राज्य और डिक्टेटरशिप दोनों ही पूँजीवाद की वैयक्तिक सम्पत्ति,

मुनाफ़े के लिये पैदावार करने की भावना, वैयक्तिक व्यापार या वैयक्तिक मज़दूरी की भावनाओं तथा संस्थाओं को नष्ट करने में असफल रही है। "क्या ब्रिटेन को मास्को की सड़क पर जाना होगा ?" इस नाम की पुस्तक में उन्होंने यह लिखा है कि रूस की आर्थिक व्यवस्था में ज़मीन की वैयक्तिक सम्पत्ति अन्तिम रूप से अधिकांश रूस में उस व्यवस्था का आधार बन गई है। सोवियत सरकार को सर्वत्र ही धीरे-धीरे सुधार और समझौते की नीति से काम लेना पड़ा है। छियानवें-सत्तानवें फ़ी सदी किसान अपनी मेहनत-मजूरी पर वैयक्तिक स्वामित्व रखते हैं। प्रोलोतेरियत डिक्टेटरशिप को गाँवों में टुटपुँजिये पूँजीपतियों के विशाल समाज की स्थापना करनी पड़ी है। दमन, आतङ्कवाद, खुफ़िया-पुलिस (चैका) लाल सेनादि से बल प्रयोग के तमाम साधन रूस की छियानवें-सतानवें फ़ी सदी जनता को ज़बरदस्ती समाजवादी बनाने में नाकामयाब साबित हुए हैं।

"डिक्टेटरशिप प्रोलीतेरियत की" नामक पुस्तक में ट्रोट्स्की ने लिखा है कि लोकतन्त्र समाजवाद का साधन ही नहीं, उसका अविच्छेद्य अङ्ग है। समाजवादियों का कहना है कि मार्क्स-ने प्रोलोतेरियत की डिक्टेटरशिप का समर्थन कभी नहीं किया था वह तो लैनिनवादी कम्यूनिस्टों का क्षेपक है।

बर्ट्रण्ड रशल की राय है कि रूस की डिक्टेटरशिप के सम्बन्ध में अधिक सम्भावना यही है कि वहाँ इस नाम की कम्यूनिस्ट नोकरशाही और स्तालिन की डिक्टेटरशिप अपने को अजर-अमर बनाने का प्रयत्न करेगी। उन्होंने इन स्तालिन-

वादियों से पूछा है कि अगर वहाँ के किसान अपनी इसी तरह की डिक्टेटरशिप का पक्ष करें तो आपको कैसा लगेगा ?

एडवर्ड वर्नस्टीन जैसे मार्क्सवाद में संशोधकवादी, लोकतन्त्रीय समाजवादी, फैबियन समाजवादी आदि बहुसंख्यक समाजवादी दलों का कहना है कि श्रेणी-संघर्ष मार्क्स के कथनानुसार बढ़ना चाहिए था परन्तु वास्तव में वह घट रहा है। मजदूर-वर्ग की दशा मार्क्स के कथनानुसार दिन पर दिन खराब नहीं हो रही बल्कि पहले से अच्छी हो रही है। मध्यवर्ग की संख्या घटने के बजाय बढ़ रही है। औद्योगिक संकट कम कठोर होते जा रहे हैं और छोटे पैमाने पर किये जाने वाले धन्धों का क्षेत्र बढ़ रहा है अर्थात् आर्थिक विकास की प्रगति जैसी मार्क्स ने बताई थी उसके ठीक विपरीत हो रही है।

सन १८४० में ऐञ्जिल्स ने यह आशा प्रकट की थी कि एक या अधिक से अधिक दो दशाब्दियों में यानी १८६० तक पूँजीवादी प्रणाली बिल्कुल खत्म होजायगी लेकिन आज सौ बरस बाद भी ऐञ्जिल्स की वह भविष्यवाणी कोरी कपोल-कल्पना ही मालूम हो रही है। ऐञ्जिल्स के समय में इंगलैंड में चार्टिस्ट आन्दोलन के रूप में मजदूर-वर्गों के विद्रोह की जो भावना प्रगट हुई थी वह क्रान्तिकारी भावना भी १८७० से खत्म होनी शुरू होगई। जिसे देख कर थोमस कूपर को यह कहना पड़ा कि सफ़ेदपोश मज़दूरों का एक नया फ़िरक़ा पैदा होरहा है जो समाजवाद तो क्या राजनैतिक न्याय तक की बातें छोड़ कर केवल सहयोग-समिति के स्टोरों की बातें करते हैं, उन्होंने यह

भी लिखा है कि क्रान्तिकारी कार्य-कर्त्ताओं को मजदूरों की इस दशा को देखकर महान कष्ट होता था। वे सोचते थे कि जिन लोगों को इतना पढ़ाया-लिखाया, जिनके पीछे हमने इतने कष्ट सहे वे अपने ही राज के लिए क्रान्ति की बात सोचना छोड़ कर अपनी आर्थिक दशा अच्छी करने और आराम से जिन्दगी बिताने की बातें सोचने लगे। कम्यूनिज्म घोषणा की समस्त आशंकाओं के प्रतिकूल इङ्गलैण्ड में पूँजीवादी उद्योग-धन्धे न केवल जीवित ही रहे बल्कि और भी बढ़े। मजदूरों पर बड़े बड़े संकट आये परन्तु उन्होंने कभी विद्रोह नहीं किया।

अब स्वयं मार्क्सवादी भी यह स्वीकार करने लगे हैं कि निकट-भविष्य में पूँजीवाद के पतन के सम्बन्ध में मार्क्स और ऐंजिल्स ने आशाजनक भविष्य वाणियाँ की थीं वे सब गलत निकलीं।

कौट्स्की ने बर्नस्टीन की आलोचना के मुकाबिले में मार्क्स के बाक़ी सब सिद्धान्तों की तो जोरों से रक्षा की लेकिन वह भी हिंसात्मक क्रान्ति के विरुद्ध था। उसका कहना था कि हिंसा का हथियार कमजोर हथियार है। शान्तिमय मजदूरों के लिए हिंसा से कहीं अधिक कारगर सिद्ध होंगे। आर्थिक, नैतिक और राजनैतिक प्रतिरोध का हथियार हिंसा के हथियार से कहीं बहतर हथियार है।

मार्क्सवाद की पूँजी-पूजा के विरुद्ध, यानी आर्थिक उन्नति को ही जीवन का सर्वोच्च ध्येय बताने के, अथवा रोटी के सवाल को ही सब से बड़ा सवाल बताने की प्रवृत्ति के विरुद्ध भी संसार

के विचारक ज़ोरदार आवाज़ उठाते हैं। उनका कहना है कि इस पूँजी-पूजा से मज़दूर-वर्ग घोर स्वार्थी और पेटू हो जाता है। उस के सामने सिवा अपनी माली हालत सुधारने के ज़िन्दगी का और कोई ध्येय ही नहीं रहता। फलस्वरूप न सिर्फ़ मज़दूर आन्दोलन ही बल्कि स्पैंगलर ओसवाल्डादि विद्वानों की सम्मति में तो स्वयं मार्क्सवाद-साम्यवाद पूँजी पतियों के हाथ की कठ-पुतली हो जाता है। समाज-वाद और साम्यवाद के इतिहास के अधिकारी ज्ञाताओं ने अपने इतिहास-ग्रन्थों में यह बात कही है कि जितना विश्वासघात समाजवादी करते और साम्यवादी आन्दोलन में उसमें घुस आने वाले नेताओं द्वारा किया गया है उतना और किसी आन्दोलन में नहीं हुआ।

स्वयं मार्क्स ने अपने जीवन-काल में मज़दूर-वर्ग को इस तरह पूँजीपतियों के हाथ बिकते देखा। मार्क्स को यह कहना पड़ा कि ब्रिटेन में वहाँ के उद्योग-धन्धे अच्छी हालत में होने की वजह से वहाँ के मज़दूर वर्ग को ख़रीदने की कोशिश की जा रही है। उन्हें वर्ग-संघर्ष से अलग हटाया जा रहा है। आम तौर पर जब ज्यादा दिनों तक माली हालत अच्छी होती है तब मज़दूर-वर्ग कर्त्तव्य-भ्रष्ट हो जाता है। मार्क्स ने यह भी कहा कि ब्रिटेन के प्रोलीतेरियत भी पूँजीवादी बुरजोई होते जा रहे हैं। ब्रिटिश प्रोलीतेरियत की क्रान्तिकारी शक्ति खत्म होती जा रही है। मार्क्स ने यह भी कहा था कि जब तक दुनियाँ के बाज़ार पर ब्रिटिश साम्राज्य का इजारा रहेगा तब तक ब्रिटेन के मज़दूर अपने आरामतलबी के रास्ते से क्रान्ति की ओर ज़रा

सही बात यह है कि जनता के बहुमत के विरुद्ध की। रूस में बहुमत किसानों का था और किसान बोल्शेविकों के पक्ष में नहीं थे। यहाँ तक कि कम्यूनिस्टों की डिक्टेटरशिप क़ायम हो जाने के कुछ महीने बाद ही जब जनवरी १९१८ में रूस की बाक़ायदा चुनी हुई विधान-निर्मात्री एसैम्बली की बैठक हुई तब तमाम सरकारी प्रभाव के बावजूद भी उस असेम्बली ने "तमाम ताक़त सोवियेतों को" देदी जाय इस प्रस्ताव को ना मंजूर कर दिया। प्रस्ताव के पक्ष में सिर्फ़ एक सौ छत्तीस वोट आये और खिलाफ़ दो सौ सैंतीस। इस तरह रूसी जनता के चुने हुये प्रतिनिधियों का बहुमत अपने विरुद्ध पाकर लैनिन ने विधान निर्मात्री कमेटी को ही भंग कर दिया। यह कम्यूनिस्ट सरकार लोक प्रिय कभी नहीं रही। इसके खिलाफ़ जनता में बहुत भारी असंतोष रहा है। अपने राज के साल भर के भीतर ही अगस्त उन्नीस सौ अठारह में इस क्रान्ति-कारी कम्यूनिस्ट सरकार की बुरी से बुरी हालत थी। पीट्रोग्राड में लोग भूखों मर रहे थे। सालभर के भीतर ही किसानों के सैंतालीस के क़रीब विद्रोह हुये जिन्हें लैनिन, ट्राटस्की और स्तालिन की सरकार ने क्रूरता के साथ दबाया। सितम्बर उन्नीस सौ अठारह के पहले पन्द्रह दिन के भीतर पाँच सौ से अधिक पूँजीपतियों और अफसरों को सरसरी न्याय के बाद गोली से मार दिया गया। लैनिन की कम्यूनिस्ट सरकार के खिलाफ़ सामाजिक क्रान्ति कारी नाम के समाजवादी दल में ही इतना असंतोष था कि इस दल की एक महिला ने अठारह सितम्बर १९१८ को लैनिन को गोली से घायल कर दिया। इस गोली से

लैनिन का स्वास्थ्य सदैव के लिए बिगड़ गया । इस कम्यूनिस्ट सरकार में जनता को तनिक भी राजनैतिक स्वाधीनता नहीं । वहाँ राजनैतिक अधिकारों के लिए, शासन-प्रणाली को बदलने के लिए, व्याख्यान देने के लिए, लेख लिखने सभायें करने, अखबार निकालने वग़ैरह का उतना भी अधिकार नहीं है जितना पूँजीवादी देशों में है । कहने को १६३६ के विधान से वहाँ सब को वोट देने का अधिकार है परन्तु जब चुनाव के लिए पार्टी फिर चाहे वह किसान सभा हो या मजदूर सभा बनाने का और फण्ड वग़ैरह इकट्ठा करने का तथा उम्मेदवार खड़े होने या करने का सब को समान अधिकार न हो तब उसके माने ही क्या रहते हैं ? इन प्रतिबन्धों का फल यह होता है कि नब्बे-फीसदी से ज्यादा जगहों पर सिर्फ़ एक ही उम्मेदवार खड़ा होता है यानी किसी किस्म का चुनाव ही नहीं होता । सबसे अजीब बात यह है कि किसान और मज़दूरों की बताई जाने वाली इस सरकार की यूनियन की कौंसिल में इक्यानवे मेम्बर ऐसे चुने गये हैं जो पुलिस के अफसर तथा कर्मचारी हैं । संयुक्त यूनियन के प्रजातंत्रों को आर्थिक स्वाधीनता तनिक भी नहीं । वे अपना बजट तक नहीं बना सकतीं और खुद मार्क्सवाद के मुताबिक जिन लोगों के हाथ में माली ताक़त होती है वही मालिक होता है । बिना आर्थिक स्वाधीनता के राजनैतिक स्वाधीनता हो ही नहीं सकती । कम्यूनिस्ट रूस में जनता को यह अधिकार नहीं है कि वह अपने लिए जैसी सरकार चाहे चुनले । वहाँ फैक्टरी के मैनेजरों की नुक्ताचीनी करने का हक़ है लेकिन सरकार के

प्रयत्न के बाद भी किसानों ने सामूहिक खेती के जिस ढङ्ग को स्वीकार किया वह वास्तव में खेती का राष्ट्रीकरण नहीं केवल सहयोगी खेती है। सामूहिक खेती के तीन स्वरूपों में से पूरी साम्यवादी खेती पच्चीस बरस बाद सिर्फ एक फ़ीसदी हो सकी है। तीसरे प्रकार की खेती सिर्फ़ गड़रियों की साझेदारी की पद्धति है। असली सामूहिक खेती यानी नब्बे फ़ीसदी से ज़्यादा किसान सामूहिक खेती में सब मेम्बरों का हक मानते हैं। इनके जिन्दे व मरे पशु भी शामिलात रहते हैं लेकिन सरकारी लगान देने के बाद जो बचत होती है वह मेम्बरों में उनके हिस्से के हिसाब से बँट जाती है। ये मेम्बर अलग २ परिवारों में रहते हैं। इनके हिस्से की बचत इनकी वैयक्तिक सम्पत्ति होती है जमीन पर मेम्बरों को दमामी हक है। उन्हें इस हक के सार्टीफ़िकेट सरकार की तरफ़ से दिये गये हैं। इसके अलावा हर मेम्बर को गाय और उसके घर के आस-पास एक-एकड़ से लेकर पाँच एकड़ तक ज़मीन निजी खेती के लिये अलग मिलती है। इस तरह किसानों ने क्रूर दमन और कम्यूनिस्ट-सरकार की तमाम शक्ति लगने के बाद भी सिर्फ़ नाम-मात्र की सामूहिक असल में सहयोगी खेती भी तभी मंजूर की है जब उनके वैयक्तिक सम्पत्ति, वैयक्तिक व्यापार और कई बीघे जमीन पर उनकी निजी मिल्कियत के हक को मंजूर कर लिया गया। इन सामूहिक फ़ार्मों से कम्यूनिस्ट-सरकार के तीन फ़ायदे हैं :—(१) उन्हें नाज अथवा टैक्स वसूल करने में सहूलियत होती है। (२) मजदूर मिलने में आसानी होती है तथा (३) लड़ाई के वक्त फ़ार्मों में

भरती करने में भी आसानी होती है।

इन बातों से यह स्पष्ट है कि रूस की कम्यूनिस्ट-सरकार पच्चीस बरस के प्रचण्ड प्रचार और घनघोर दमन के बाद भी रूस के किसानों को साम्यवादी नहीं बना सकी। उसे किसानों की जमीन पर दमामी हक़ देने पड़े। उनका यह हक़ पैतृक है। ज़िन्दगी तक ही यह महदूद नहीं। उन्हें छः बरस तक अपने खेत पट्टे पर उठाने का भी हक है और खेती के काम के लिये नौकर और मजदूर रखने का भी हक़ है। रूस के किसानों और रूस कम्यूनिस्ट-सरकार के इस संघर्ष में कम्यूनिस्ट-सरकार को लैनिन और स्तालिन दोनों को बार-बार मुँह की खानी पड़ी है। इतनी हार कि ट्राट्स्की आदि बहुत से कम्यूनिस्ट तो यहाँ तक कहते हैं कि रूस की कम्यूनिस्ट-सरकार ने किसानों से हार मान कर साम्य-वाद और मजदूर-वर्ग दोनों को ताक़ पर रख दिया है। मिल इरविन इत्यादि अनेक विचार-शील तथा बहुज्ञ लेखकों ने किसानों की इस विजय का वर्णन किया है। इस संघर्ष की, किसानों की इस विजय की और किसानों पर कम्यूनिस्ट-रूस में की गई—क्रूरताओं की कहानी इतनी विस्तृत और शिक्षा-प्रद है कि उसका वर्णन अलग पुस्तक में ही हो सकता है। उसके लिए अलग अध्याय रखने से भी इस पुस्तक का कलेवर बहुत बढ़ जाने का डर है इसलिए यहाँ पाठकों को इतने से ही सन्तोष करना पड़ेगा।

लैनिन के नेतृत्व में बोल्शेविकों ने जो डिक्टेटरशिप कायम की वह रूस की जनता के बहुमत की राय लेकर नहीं की बल्कि

लोगों ने उसे बुरा-भला कहा तो उस मज़दूर ने कहा कि यह औरत मजदूर औरत थोड़े ही है। कहने का मतलब यह कि आज के रूस में मज़दूर अपने को उच्च समझते हैं यद्यपि यह बहुत बड़ी चीज़ है। देश की जनता में-किसानों-मजदूरों और गरीबों में सर्वत्र यही मनोवृत्ति पैदा करनी चाहिए परन्तु रूस में यह स्थिति उपर्युक्त सब दुष्परिणामों से प्राप्त हुई है और उससे मनोवैज्ञानिक सन्तोष के अलावा मज़दूरों की आर्थिक स्थिति अथवा राजनैतिक अधिकारों में जितनी उन्नति होनी चाहिये थी उतनी नहीं है। शुरू-शुरू में मज़दूरों की बहुत पूछ थी। शासन में भी उनका हाथ था। फैक्टरियों का प्रबन्ध भी उनके हाथों में था और उनको मजदूरी की जगह जीविका निर्वाह का चन्दा मिलता था। धीरे-धीरे उनके ये सब अधिकार छीन लिये गये। फैक्टरियों का प्रबन्ध उनके हाथ से छीन कर पहले एक कमेटी के हाथ में दिया गया। इस कमेटी में मैनेजर कम्यूनिस्ट पार्टी का सेक्रेटरी और मजदूर संघ का एक प्रतिनिधि होता था लेकिन १६२७ के बाद यह कमेटी भी तोड़ दी गई और फैक्टरी के प्रबन्ध सम्बन्धी कुल अधिकार फैक्टरी मैनेजर को सौंप दिये गये। पहिले हफ्ते में पाँच दिन काम लिया जाता था अब पूरे सात दिन लिया जाता है। शुरू में दिन में सिर्फ सात घंटे काम लिया जाता था फिर दस घंटे तक लिया जाने लगा। अब यह हालत है कि मजदूर एक दिन भी काम पर न आवे तो उसे न सिर्फ बरखास्त ही किया जा सकता है बल्कि उसका राशन कार्ड बन्द करके उसे भूखों मारा जा सकता है अब जीविका निर्वाह के भत्ते की

जगह कमेटी बनती है। टौम्स की १९१७ से लेकर १९२९ तक बारह बरस रूस भरके मजदूर-संघों की अखिल रूसी केन्द्रीय कमेटी का सभापति रहा। उसने मजदूरों के अधिकार बनाये रखने को बहुत कोशिश की लेकिन नाकामयाब रही १९२८ के सितम्बर से यह निश्चत नियम करदिया गया कि मजदूरों की तनख्वाह के लिए फैक्टरियों की आमदनी में केन्द्रीय कमेटी जितना फंड मुक़र्रिर कर दे उसे बढ़वाने की मांग कोई नहीं पेश करसकता बेचारे टौयस्की ने सन् १९३१ ई० में आत्मघात-करके अपनी जीवन लीला सामाप्त की। आर्थिक दशा की दृष्टि से जर्मनी, इंगलैडं और संयुक्त प्रदेश अमेरिका के मजदूरों की मजूरी कम्यूनिस्ट राज में रूस में मिलने वाली मजदूरों को मजूरी से कहीं ज्यादा है। इंगलैन्ड के मजदूरों को रूस के मजदूरों से दूनी मजदूरी मिलती है। सत् १९४२ के उत्तरार्ध में प्रसिद्ध अमेरिकन

विण्डल्त विल्की ने रूस समेत संसार के अनेक देशों की यात्रा की। उस यात्रा के बाद उन्होंने "एक संसार" नामक पुस्तक लिखी जिसकी लाखों प्रतियाँ हफ्तों में बिकीं। इसी पुस्तक में उन्होंने "हमारा साथी रूस" नाम का अध्याय लिखा। उसमें उन्होंने पुस्तक के इक्यानवे मे पृष्ठ पर लिखा है कि दस-दस वर्ष के बच्चों से हफ्ते में बालिगों का पूरा काम छियासठ-छियासठ घण्टे का काम लिया जाता है। उनका कहना है कि कम्यूनिस्ट रूस में मजदूरों को भर्ती करने और उन्हें मजूरी देने के जो तरीके बढ़ते जाते हैं वे अमेरिका के स्वर्थी से स्वार्थी पूंजीपति को संतुष्ट कर सकते हैं।

खिलाफ कोई चूं नहीं कर सकता। स्तालिन पार्टी का विरोध करने वाली किसी कम्यूनिस्ट पार्टी का भी प्रेस और समाचार-पत्र वहाँ नहीं चल सकता। सरकारी कर्मचारियों में भी स्तालिन-वादी कम्यूनिस्टों के अलावा और किसी को नहीं लिया जाता। लैनिन ने १९१७ में ही सब को नागरिक स्वतंत्रता देने से मनाही कर दी थी उसी साल ऐसे लोगों को जो १९१७ तक उत्साही क्रान्तिकारी थे केवल इसलिए गिरफ्तार क़ैद तथा कत्ल किया गया था कि वे सोवियत सरकार के विरोधी थे। रूस में कानून है कि अगर किसान सामूहिक फार्म में से अपने ही हाथ से उगाये हुये नाज का तनिक सा हिस्सा चुरा ले तो उन्हें मौत की सज़ा मिलती है। स्तालिन का दमन का इतिहास तो लासानी है। १९३७-३८ में उसमें कम्यूनिस्ट-पार्टी के ही दो हजार मेम्बरों को प्राण-दण्ड दिया। ये संख्या तो वह है जो वहाँ के अखबारों में छपी। इससे अधिक कितने थे कौन जाने? रूसी सोविएत प्रजातन्त्रों के संयुक्त राज्य में तमाम प्रजातन्त्रों के जितने प्रेसीडेन्ट और प्राइम मिनिस्टर थे उनमें से सिर्फ एक को छोड़कर सब को मौत के घाट उतार दिया गया। लाल सेना के अधिकतर अफ़सर, लगभग सभी नाविक एँडमिरल और क्रान्तिकालीन लगभग सभी जनरलों को दण्ड दिया गया। विरोधी राजनैतिक कैदियों पर वहाँ ये जुल्म किये जाते हैं कि उन्हें महीनों घोर अन्धकार में रख कर यकायक बिजली के प्रचण्ड प्रकाश में कर दिया जाता है, महीनों सोने नहीं दिया जाता। कोठरियों के द्वार पर खड़े गार्ड रिवाल्वर लिये धमकाते

हैं। इन्हीं अत्याचारों से विवश होकर क़ैदी पागल हो जाते थे। अधिकारियों द्वारा लिखे गये किसी भी इक़बाल पर दस्तख़त कर देते थे! रूस में राजनैतिक कारणों से क्रान्ति से लेकर १६३८ तक बीस बरस में दस लाख के क़रीब लोग काम आ चुके थे! लैनिन की राजनैतिक व्यूरो में यानी कार्य-कर्त्री कमेटी में नौ मेम्बर थे। इन में से सब के सब पुराने कम्यूनिस्ट थे जो ज़ार की क़ैदों में तप चुके थे। इनमें से स्तालिन ने १६३४ से लेकर १६३८ तक सब को खत्म कर दिया! उनमें से लैनिन अपनी मौत मरा। ट्रोयस्की ने खुदकुशी की बाक़ी सब स्तालिन की दमन-नीति के शिकार हुये। स्तालिन के समय में नियुक्त पोलिट व्यूरो के एक मेम्बर ने भी इसी प्रकार आत्म-घात किया। घोर दमन की यह कहानी भी बहुत लम्बी है, यहाँ इसका उपसंहार मैक्सईस्टमैन के इन शब्दों में किया जाता है कि यदि बेक़सूर लोगों के बहाये हुये खून को नापा जाय तो हिटलर का बहाया हुआ खून एक तालाब के बराबर निकलेगा तो स्तालिन का झील के बराबर! *

रूस में कम्यूनिस्ट राज से वहाँ के मज़दूरों की दशा में भी विशेष उल्लेखनीय सुधार हुआ हो सो बात भी नहीं है। निस्सन्देह वहाँ के मज़दूरों को एक मनोवैज्ञानिक सन्तोष अवश्य है कि यहाँ हमारा अपना राज है। कल तक हम जो कुछ भी न थे आज सब कुछ हैं। एक लेखक ने लिखा है कि एक मज़दूर ने वहाँ किसी औरत के साथ छेड़-छाड़ की। इस पर उपस्थित

* Stalins Russia P. 87

उसने यह दिखाया है कि मानवेतिहास में भिन्न-भिन्न जातियों द्वारा एक देश से दूसरे देश पर जो आक्रमण हुये वे आर्थिक कारणों से नहीं, विजयाकांक्षा से प्रेरित होकर हुए। स्पेंगल ओस्वाल्ड के साथ-साथ बर्ट्रान्ड रशल ने भी अपनी "शक्ति" नामक पुस्तक में यह सिद्ध किया है कि अर्थ-शास्त्र नहीं राजनीति सामाजिक हलचलों का प्रधान कारण होती है। लोग रोटी के लिए नहीं शक्ति के लिए युद्ध में प्रवृत होते हैं, स्पेंगलर ओस्वाल्ड ने याद दिलाई है कि सत्रहवीं सदी में योरोप में धर्म के नाम पर लाखों लोग सहर्ष अग्नि में कूद पड़े थे। उस समय वे जल्लाद से उतना नहीं डरते थे जितना कि नरक से। अपनी पुस्तक के उत्तरार्द्ध के चार सौ एकवें पृष्ठ पर उसने लिखा है कि सारे संसार का त्राण करने वाले ये लोग पूँजीवाद से लड़ने का दावा करते हुये वास्तव में पूँजीवाद तथा पूँजी-पूजा के सहायक सिद्ध होते हैं। चारसौ दोवें पृष्ठ पर लिखा है कि कोई प्रोलीतेरिएत या कम्यूनिस्ट आन्दोलन ऐसा नहीं जिसमे पूँजी-वादियों के हितों की वृद्धि अथवा स्वार्थों की सिद्ध न हुई हो। चारसौ चौअनवें पृष्ठ पर उसने लिखा है कि कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो की शक्ति खत्म हो गई, किसी की आलोचना के कारण नहीं बल्कि इस कारण क्योंकि लोग उससे ऊब गये। जन-मन की जिस उचाट ने रूस की क्रान्तिकारी शक्ति को खत्म कर दिया वही मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी शक्ति को खत्म कर रही है। अपनी पुस्तक के उत्तरार्द्ध के तेरहवें अध्याय में यह सिद्ध किया है कि अर्थ-शास्त्र जीवन का एक अङ्ग है परन्तु जब वह राज

नीति से स्वतन्त्र या प्रधान रूप में पेश किया जाता है तब भ्रम-पूर्ण हो जाता है। राजनीति के आधीन रह कर ही वह सही रहता है। चारसौ इकहत्तरवें पृष्ठ पर उसने अर्थ-शास्त्र के ऊपर राजनीति की शक्ति की प्रभुता दिखाई है। कहा है भूख से मरने वाला प्राणी पतित होता है। राजनैतिक स्वाधीनतादि कारणों के लिए लड़कर युद्ध में मरने वाला अमर तथा समुन्नत होजाता है। जब किसी देश की सभ्यता का ह्रास होने को होता है तब वहाँ लोग ज्यादा से ज्यादा लोगों की आर्थिक उन्नति के, रोटी के और आशिक-माशूकी के सवालों पर जोर देने लगते हैं। उस देश में स्वाधीनता-संग्राम में सहर्ष बलि देने को प्रस्तुत सक्रिय-वर्ग की जगह आर्थिक उन्नति को ही सब कुछ समझने वाली वणिक-वृत्ति को, और धर्म-कर्त्तव्य पर सर्वस्व की बलि देने वाले ब्राह्मण-भावना की जगह खाओ-पियो मौज करो की बुद्धि-वादियों की प्रगतिशील भावना को प्रधानता मिलती है। प्रत्येक देश के इस पतन-काल में आदर्शों और देवताओं की जगह मशीनों की और कारखानों की पूजा होने लगती है।

एक अनुभवी मार्क्सवादी लेखक मैक्सईस्टमेन ने अपनी "स्टेलिन का रूस" नामक पुस्तक के एक सौ सतानवेवें पृष्ठ पर लिखा है कि मार्क्स ने जहाँ पूँजीवाद के विश्लेषण से संसार के ज्ञान-भण्डार में अमूल्य वृद्धि की वहाँ मार्क्स की विश्व-दृष्टि में सत्य विज्ञान की दृष्टि से ही नहीं, परन्तु साधारण व्यावहारिक दृष्टि में भी सत्य का अंश बहुत कम रहा। धर्म और सदाचार से मार्क्सवाद का न सिर्फ कोई सम्बन्ध ही नहीं है बल्कि निश्चित

रूप से तीन और छः का सम्बन्ध—विरोध का सम्बन्ध है। ट्राटस्की का कहना है कि झूठ और हिंसा स्वतः निन्दनीय नहीं है सदाचार व श्रेणी-संघर्ष का एक व्यापार मात्र है। लैनिन का कहना है कि सदाचार श्रेणी-स्वार्थों के अधीन है। बोल्शेविक के लिए पार्टी ही सब कुछ है। धर्म और ईश्वर के विरुद्ध प्रचार लैनिन की राय में मार्क्सवादियों का परम-पावन कर्त्तव्य है। इसी उद्देश में ईश्वर-विरोधी विचित्रालय तथा ईश्वर-विरोधी लीग की रूस में स्थापना की गई थी।

मार्क्सवाद की एक विचित्र बात यह है कि जहाँ मार्क्स का कहना यह था कि संसार में न कुछ सनातन है, न कुछ पवित्र। वहाँ आज के बहुत से मार्क्सवादी कल्पना विहारी समाज-वादी हैं। वे स्तालिन-वाद को पवित्र और स्तालनीय शासन को अमर मानते हैं। लैनिन ने यह कहा था कि हम में से कोई यह नहीं जानता कि जब समाज-वाद आवेगा तब उसका स्वरूप क्या होगा परन्तु नये स्तालिनवादी समाजवाद के सम्पूर्ण भावी स्वरूप को पूर्णतया जानने का दावा करते हैं। यद्यपि वे इस बात का कोई जवाब नहीं दे सकते कि जब श्रेणी-संघर्ष न रहेगा, प्रोलीतेरियत डिक्टेटरशिप के मुरझा जाने के बाद जब समाज श्रेणी-हीन हो जायगा तब फिर द्वन्द्वात्मक प्रगति किस प्रकार होगी ? समाज का समस्त विकास जो श्रेणी-संघर्ष पर ही आधारित बनाया जाता है क्यों नहीं रुक जायगा ?

ये स्तालिनवादी मानव प्रकृति के मौलिक तथ्यों तथा नियमों की अवहेलना करते हैं और फलस्वरूप सर्वत्र अपनी

विफलता देख कर भी सचेत नहीं होते।

बर्ट्रण्डरशल ने अपनी "शक्ति" नामक पुस्तक में एक सौ इक्कीसवें पृष्ठ पर यह लिखा है कि मार्क्सवाद की अगर कोई चीज़ कारगर साबित हुई है तो वह उसका उदारवाद (लोकतंत्र) का विरोध। रूस में मार्क्सवादियों ने लोकतंत्र विरोधी एक डिक्टेटरशिप क़ायम की है जो अपनी स्थिरता के लिए केवल लाल सेना पर निर्भर है। कम्यूनिस्ट सिद्धांत का अन्तर्राष्ट्रीय भाग बेकार साबित हुआ है। यूरुप की राइन नदी से लेकर प्रशान्त महासागर तक लगभग सभी जगह मार्क्सवाद के सभी सिद्धांत नामंजूर कर दिये गये हैं।

पूँजीवादियों की 'शक्ति' उन्होंने आगे लिखा है कि, प्रधान नहीं गौण हैं। वह सैनिक और राजनैतिक शक्ति पर निर्भर है। मार्क्सवाद ने शक्ति के मुकाबिले में पूँजी को जो प्रधानता दी है वह ग़लत है। राज को पुलिस और राज के कानूनों की मदद न हो तो पूँजीवादी कुछ नहीं कर सकते। उनका कहना है कि अगर पूँजीवादी मजदूरों को अपने कारखाने के मुनाफ़े में से कुछ हिस्सा देने लगें तो मज़दूर-वर्ग क्रान्ति का नाम भी नहीं लेगा। उदाहरणार्थ संयुक्त प्रदेश अमेरिका में अपने काम में होशियार मज़दूर न केवल क्रान्ति को भूल ही गये हैं बल्कि अनुदार-प्राचीन परिपाटी-पोषक हो गये हैं। उनकी राय है कि रूस में एक मनुष्य की डिक्टेटरशिप है और यह डिक्टेटरशिप मुरझाने के बदले इस बात के बहुत से कारण बताने लगेगी तथा ऐसी परिस्थितियाँ पैदा कर देगी जिस से उनको डिक्टेटर

शिप सदा बनी रहे। इसी पुस्तक के दो सौ सैंतालीसवें पृष्ठ पर उन्होंने यह लिखा है कि मार्क्सवादियों का यह सिद्धान्त कि सदाचार-शास्त्र का विकास आर्थिक अथवा वर्ग-स्वार्थ से होता है उसके इस सिद्धान्त से भी अधिक अपूर्ण है कि समस्त शक्ति आर्थिक शक्ति से विस्तृत होती है।

अन्त में उन्होंने यह लिखा है कि रूस में मुट्ठी भर कम्यूनिस्ट नेताओं का राज जार के शासन से भी अधिक शक्तिशाली और अत्याचार पूर्ण है। उसमें व्यक्तियों को वोट देने का अधिकार तो है लेकिन उम्मेदवार तय करने में उनका कोई हाथ नहीं वे स्वतन्त्रता-पूर्वक अपने मन का उम्मेदवार नहीं खड़ा कर सकते।

मार्क्सवादी विचार-धारा में अभी बहुत सी उन्नीसवीं सदी की दकियानूसी बातें भी हुई हैं। वे अपना काम इस तरह करते हैं जिस तरह पुराणखण्डी पूँजीपति करते थे। उन्होंने बीसवीं सदी की पूँजीवादी प्रणाली से स्वामित्व और नियन्त्रण में जो लगाव हो गया है उससे मिलने वाली शिक्षाओं को नहीं लिखा। अपनी पुस्तक के तीन सौ सातवें पृष्ठ पर उन्होंने लिखा है कि यह समझना कि अनियन्त्रित-शक्ति केवल कम्यूनिस्टों के हाथ में होने की वजह से धींगा-धांगी से बची रहेगी पालने के बच्चे की सी मनोवृत्ति की द्योतक है। आल्डसहक्साले ने अपनी "साध्य और साधन" नामक पुस्तक में सिद्ध किया है कि हिंसा से सदैव हिंसा ही पैदा होती है। मसलन जार की हिंसा में साम्यवादी हिंसा पैदा हुई और साम्यवादी हिंसा से फासिस्त प्रतिहिंसा। अनेक विद्वानों तथा विचारकों का मत है कि मार्क्स-

वाद अब केवल राज्याश्रित मज़हब रह गया है और जिस ख्याली सोविएत राज पर वह आश्रित है वह साम्राज्यवादी डिक्टेटरशिप में परिणत हो रहा है।

रूसी सोवियत की प्रयोग शाला

मार्क्सवाद के मुख्य सिद्धान्तों की आलोचना में हमने यह देख लिया कि उनमें न तो परस्पर ही कोई तार्किक सम्बन्ध है, न तर्क-शास्त्र विज्ञान और इतिहास ही उनका समर्थन करता है। वे अधूरे तथा सदोष हैं।

अब हमें यह देखना है कि सन् १६१६ के नवम्बर से रूस जैसे विशाल देश में अपनी डिक्टेटरशिप क़ायम करके कम्यूनिष्टों ने अपने सिद्धान्तों को कहाँ तक सार्थक किया अथवा उनके अपने एक छत्र शासन की प्रयोगशाला की कसौटी पर वे सिद्धान्त-कैसे उतरे? परन्तु इससे पहिले दो-एक भ्रमों को दूर कर देना आवश्यक है और वह भ्रम यह है कि रूस की मार्च की राज्य क्रान्ति का श्रेय कम्यूनिष्टों को है और नवम्बर क्रान्ति की सफलता कम्यूनिस्ट कार्य-क्रम की सफलता का चमकता हुआ सितारा है।

यह सर्व मान्य बात है कि १६१६ तक रूस संसार के सभी देशों में फिसड्डी और अनुन्नत देश माना जाता था तथा वहाँ का ज़ारशाही शासन स्वेच्छाचारी शासन का नमूना। इस स्वेच्छाचारी शासन के प्रति रूस के सजग लोगों में बहुत असन्तोष था। इस शासन की कमज़ोरियाँ रूस-जापान युद्ध से समस्त संसार के सामने आईं और उस के प्रति रूसी जनता का

घोर-असन्तोष सन् १९०५ के विशाल विद्रोह के रूप में प्रकट हुआ। सन् १९१४-१८ के महायुद्ध में ये दोनों बातें चरम सीमा तक पहुँच गई थीं। तत्कालीन जार-मूर्ख और जारीना मूढ़ विश्वासी थे। कपट-मुनि धूर्तशिरोमणि रासपुटिन की तूती बोलती थी। शासक-वर्ग प्रभुता-मद में चूर था। अज्ञानान्धकार में डूबा हुआ था। युद्ध में रूस को हारपर हार खानी पड़ी। सेना में भी घोर असन्तोष फैल गया इन्हीं सब कारणों से मार्च सन् १९१७ की राज्य-क्रान्ति हुई। इनमें से एक भी कारण कम्यूनिस्ट गुट या कारित नहीं था और स्वयं स्टालिन ने अगस्त १९१७ में राजनैतिक स्थिति पर जो रिपोर्ट पेश की उस में यह कहा कि चार ताकतों ने मिलकर मार्च १९१७ की क्रान्ति की। ये ताकतें थीं :—(१) सम्पत्ति हीन मजदूर (२) किसान (३) उदार विचार के बुर्जिआई (पूँजीवादी) और (४) मित्र-राष्ट्रों के पूँजीपति। जिस समय मार्च सन् १९१७ की राज्य क्रान्ति हुई उस समय लेनिन रूस से बाहर था। वह जर्मन सरकार की सहायता लेकर क्रान्ति हो जाने के बाद रूस पहुँचा। ट्राट्स्की ने रूस की राज्य-क्रान्ति पर जो प्रामाणिक पुस्तक लिखी है उससे भी यह सिद्ध है कि मार्च सन् १९१७ की क्रान्ति का श्रेय न कम्यूनिस्टों को है न उनके आयोजन को।

बोल्शेवी कार्य-कारिणी कमेटी में यह प्रस्ताव रखा कि हमें कैरेंस्की की सरकार का तख्ता पलट कर ताक़त अपने हाथ में ले लेनी चाहिए। तब कॉमनेव में उसका विरोध किया और बहस में सितम्बर बीत जाने पर अक्टूबर में जब वोट लीं गईं तब लैनिन का प्रस्ताव कार्यकारिणी कमेटी द्वारा नामंजूर कर दिया गया।

परन्तु रूस की और संसार की तत्कालीन परिस्थिति क्रान्ति के लिए पूर्णतया अनुकूल थी। रूसी फौजें हार रहीं थीं। फौज में तथा किसानों में घोर असन्तोष था। फ़ौज लड़ना नहीं चाहती थी, शान्ति चाहती थी। किसान चाहते थे कि सरकार उनके उस अधिकार को स्वीकार करले जो उन्होंने ज़मींदारों से जमीन छीन कर उस पर क़ायम कर लिया है। शहरों में भूखे मज़दूर रोटी-रोटी पुकारते थे। कैरेंस्की की सरकार ने अपनी रक्षा और विद्रोहियों के दमन के लिए कोई प्रबन्ध नहीं किया था। स्वयं लैनिन ने यह माना है कि उन दिनों उनकी पार्टी को न केवल अपना प्रचार करने की बलिक खुल्लमखुल्ला सशस्त्र क्रान्ति का संगठन करने, तथा शस्त्रास्त्र इकट्ठा करने की, सेना तक में प्रचार करने की जितनी सुविधा थी उतनी संसार के इतिहास में शायद ही किसी पार्टी को मिली हो। ऐसी कमज़ोर और ढिल-मिल सरकार के खिलाफ इतने तीव्र प्राय असन्तोष की अवस्था में, खुल्लमखुल्ला सशस्त्र क्रांति का संगठन करने का स्वर्णावसर होते हुए उसे लैनिन जैसा लोक नायक कैसे खो सकता था? अक्टूबर में उसने अपना फिर वही प्रस्ताव अखिल रूसीय

बोल्शेविक कार्य-कारिणी में पेश किया और इस बार वह बहुमत से पास हो गया। रीकोव और ट्रोटस्की उदासीन रहे। ज़िनोवीव कामनेव ने न केवल उसके ख़िलाफ़ वोट ही दी बल्कि आम जनता में उसके विरुद्ध लिखित विरोध प्रकाशित किया।

केरेंस्की की सरकार इतनी पङ्गु थी कि सरकारी महल के गार्ड तक विद्रोहियों से मिले हुए थे। फ़ौज ने उसका हुक्म मानने से इन्कार कर दिया और वह भी बोल्शेविकों से मिल गई। बड़ी आसानी के साथ, बहुत ही कम, नाम-मात्र की ख़ून-ख़राबी के साथ ताक़त बोल्शेविकों ने अपने हाथ में कर ली। एक विद्वान लेखक की यह बात अक्षरशः सत्य है कि ताक़त केरेंस्की की सरकार के हाथ से अपने आप छूटकर सड़कों पर पड़ी हुई थी। बोल्शेविकों को केवल इतना करना पड़ा कि इस तरह पड़ी हुई लावारिस चीज़ को उठा लें। कहने का मतलब यह है कि क्रांति के स्वर्णावसर से लाभ उठाने का पूरा श्रेय लेनिन को है। यह भी स्पष्ट सिद्ध है कि केरेंस्की की सरकार का पतन हुआ, वह अपने आप मरी। बोल्शेविकों को उसे मारना नहीं पड़ा, केवल उसकी लाश उठा कर उसकी जगह पर बैठना पड़ा।

लेनिन का श्रेय उतना क्रांति करने में नहीं जितना अव्यवस्था में व्यवस्था लाने का। उसकी विलक्षण बुद्धि ने "अमन, रोटी, और ज़मीन" के नारों से क्रमशः फ़ौज, मज़दूर और किसानों को उसकी सरकार के पक्ष में कर लिया और फिर निर्दयता के साथ उसने अपने शासन की रक्षा की ख़ातिर, उसकी जड़ जमाई और व्यवस्था स्थापित की, इसके लिए इतिहास

उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करता है।

यह सवाल किया जा सकता है शासन की बागडोर कैरेंस्कीमन्त्रि-मण्डल के हाथ से छूटकर सड़क पर पड़ी हुई थी उसे लैनिन ने ही क्यों उठाया ? इसका उत्तर यह है कि उस समय रूस में बोल्शेविक पार्टी एक ऐसी पार्टी थी जो सुसंङ्गठित थी जिसके पास सुनिश्चित कार्य-क्रम था तथा जिसमें अपने संग-ठन और अपने कार्य-क्रम पर विश्वास था। यह शक्ति बोल्शे-विक जो मज़दूर वर्ग के कन्धों पर चढ़ कर तथा किसानों को ज़मीन और फौज को शांति के लालच से अपने साथ लेकर हस्तगत की थी इसलिए शुरू में शासन पर मज़दूर-वर्ग का नियन्त्रण रहा।

नवम्बर उन्नीस सौ सत्रह से लेकर उन्नीस सौ अठारह तक रूस के शासन व कारखानों में मज़दूर-वर्ग का बोल बाला रहा। लेकिन १६१८ में ही मज़दूरों के नियन्त्रण का स्थान शासन में युद्ध कालीन कम्यूनिज्म ने ले लिया। इस समय में कट्टरता-पूर्वक कम्यूनिस्ट कार्य-क्रम से काम लिया गया परन्तु उससे रूस की सामाजिक समस्याएँ हल न हो सकीं। जनता में घोर असन्तोष बढ़ा। सन् १६२१ के मार्च तक रूस की आर्थिक व्यवस्था बिल्कुल छिन्न-भिन्न होगई। फलस्वरूप मार्च में ही क्रौन्सडैन्ट के नाविकों ने विद्रोह किया जिसे कुचल दिया गया। शहरों में मज़-दूर भूखे हाय रोटी, हाय रोटी, चिल्लाने लगे।

सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच गई। विचक्षण व्यवहार-बुद्धि सम्पन्न लैनिन ने यह देख लिया कि कट्टर कम्यूनिस्ट कार्य-क्रम अव्यवहार्य

है अतः उसने उसे जलते हुये कोयले की तरह दूर फेंक दिया और उसकी जगह सन् १६२१ में नई आर्थिक नीति चलाई। नई आर्थिक नीति का यह युग सन्देह, दुविधा, प्रयोग और परस्पर प्रतिकूल नीतियों का युग था। इस नीति के अनुसार रूस में वैय-क्तिक पूँजी से काम लेकर राज के नियन्त्रण में वैध हो गया था। बहुत से सच्चे और उत्साही साम्यवादी इस साम्यवाद-विरोधी नीति से इतने हताश तथा भग्न-हृदय हुए कि उन्होंने आत्म-घात कर लिया! इस नीति के अनुसार किसान—खेती के टुट पुँजिये पूँजीवाद को काफ़ी स्वतन्त्रता मिली। कम महत्त्व-पूर्ण धन्धों और व्यापारों में, जिनमें बीस से कम मजदूर काम करें उन सब में वैयक्तिक पूँजीवाद का सिद्धान्त मान लिया गया। किसानों को यह अधिकार भी मिल गया कि राज कर देने के बाद उनके पास जो माल बचे उससे वे व्यापार करलें। स्वयं लेनिन ने ग्यारहवीं पार्टी कान्फ्रेंस में इस नीति के सम्बन्ध में यह कहा कि यह पूँजीवाद की ओर प्रत्यागमन है। इस नीति के फलस्वरूप मजदूरों को मजदूरी उनके काम के मुताबिक, मेहनत के मुताबिक नहीं, मेहनत के नतीजे के मुताबिक दी जाने लगी। पूँजी, ब्याज बैंक, टैक्स सब कारोबार पूर्ववत चलने लगे अर्थात् रूस की आर्थिक व्यवस्था राजकीय पूँजीवाद में परिणत होगई। कम्यू-निस्ट इन्टर-नेशनल की तीसरी कान्फ्रेंस में उसके मेम्बरों ने बोल्शेविकों की केन्द्रीय कमेटी पर यह इल्ज़ाम लगाया कि उन्हों ने थोड़े से टुकड़ों के पीछे प्रोलीतेरियत को किसानों के हाथ बेच दिया है। इस नई आर्थिक नीति से सट्टेबाज़ी भी फिर से जारी

हो गई। लोगों ने लाखों के वारे-न्यारे किये। जुआ, रिश्वत खोरी, रण्डीबाजी और जुर्मों के प्रति पुलिस की नज़रन्दाजी का बाजार गर्म होगया।

श्रीमती ए० एल० स्ट्रॉंड ने लिखा है कि कुछ कम्यूनिस्टों की बीवियाँ यह शिकायत करने लगीं कि जब सब भूखों मरते थे तब हम भी भूखों मरते थे लेकिन अब जब कि दूसरे लोगों के छक्के-पन्जे उड़ रहे हैं तब हमी क्यों दुखी रहें १९२४ के वसन्त में सोवियति उच्च अधिकारी राजकीय ट्रस्टों के अध्यक्षों और कम्यूनिस्ट पार्टी के मेम्बरों के भ्रष्टाचार को देख कर दङ्ग रह गये। जिन्दगी के मजों के भूखे नरनारी इस काल में गन्दे नालों में लोटने लगे। सन् १९२४-२५ में स्तालिन ने स्वयं ज़मीन की शिकमी को उठाने और खेती के काम के लिए मजदूर रखने की इजाजत दी। अक्टूबर १९२२ में स्वयं लैनिन ने यह कहा था कि यह नई आर्थिक नीति समाज-वाद नहीं है। हमें अपनी हार के कारण पीछे लौटना पड़ा है।

कम्यूनिस्ट नीति तथा साम्यवादी सिद्धान्तों की यह पराजय किसानों के कारण हुई। जिस समय रूस में नवम्बर १९१७ में लैनिन ने प्रोलीतेरियत डिक्टेटरशिप के नाम पर कम्यूनिष्ट डिक्टेटरशिप कायम की उस वक्त तक वहाँ किसानों की संख्या सबसे अधिक थी और किसानों की मनोवृति साम्यवाद विरोधी छोटे पूँजीपतियों की मनोवृत्ति होती है। वे अपनी वैयक्तिक सम्पत्ति और वैयक्तिक व्यापार तथा भूमिपर अपने

Russion Peasant—John Maynord P. 151

स्वामित्व को किसी मार्क्सवाद के नाम पर छोड़ने को तैयार नहीं हैं। यद्यपि ज़मीदारों से अपना पिन्ड छुड़ाने के लिए किसानों ने कम्यूनिष्टों का साथ दिया लेकिन ज़मीदारी प्रथा से अपनी मुक्ति किसानों ने अपने बाहुबल से की। इसके लिये वे कम्यूनिष्ट-पार्टी के ऋणी नहीं हैं। कम्यूनिष्ट-पार्टी को तो परिस्थितियों से विवश होकर केवल इतना करना पड़ा कि वे किसानों से ज़मीदारों की ज़मीनें छीन कर उनपर अपना जो कब्ज़ा कर लिया है उसे कानूनी करार देदें। किसानों की इस शक्ति और इस मनोवृत्ति को देखकर ही स्तालिन को सन् १६२४ में यह कहना पड़ा था कि रूस जैसे किसानों के एक देश की कोशिश समाज-वाद की विजय के लिये काफी नहीं है।* स्तालिन ने "लेनिन-वाद" पुस्तक में यह भी पष्ट लिखा है कि मार्क्सवादी किसानों को क्रान्तिकारी नहीं समझते। वे सब किसानों को अपने साथ लेने के लिये पहले जमींदारी-प्रथा के नाश का नारा लगाते हैं और जब किसानों को इस चकमे में देकर उनकी मदद से डिक्टेटरशिप क़ायम कर लेते हैं तब उनके साथ केवल साथी; सौतेले भाई का-सा बरताव करते हैं। अपनी ताक़त मजबूत होते ही ये किसानों में फूट डालते हैं और ग़रीब किसानों की मदद से आसूदा किसानों को बरबाद करते हैं। उनका अन्तिम ध्येय ग़रीब किसानों को भी खेती का सम्पत्ति-हीन मज़दूर—प्रोलीतेरयित बनाना है। रूस में किसानों के बच्चे तक इस बात को जानते हैं। वे कहते हैं हम सोवियटी (Soviet-people)

*The Russion Peasant—John Maynord P. 153.

नहीं। हमतो किसान हैं। †रूस के किसानों के प्रति वहाँ की सोवियत का सौतेला व्यवहार हर बात में प्रकट हुआ। जहाँ मजदूरों को पचीस हजार वोट पीछे एक प्रतिनिधि मिलता था वहाँ किसानों को एक लाख पचीस हजार पीछे। यानी एक मजदूर की वोट की क़ीमत पाँच किसान के वोट के बराबर थी १६३६ में नये शासन विधान में, हिटलर के डर से, किसानों के साथ सोवियत सरकार द्वारा किया गया यह अन्याय उन्नीस बरस बाद दूर किया गया लेकिन अब भी रूस में न तो किसानों को किसान-सभा बनाने की इजाजत है न वे चुनावों में अपने उम्मेदवार ही खड़े कर सकते हैं। मास्को के पास वहाँ के किसान ने एक कम्यूनिस्ट उम्मेदवार के मुक़ाबिले में अपना उम्मेदवार खड़ा किया। कम्यूनिस्ट उम्मेदवार ने न्यायी तथा पक्षपात पूर्ण क़ानून की आड़ लेकर उस किसान उम्मेदवार का नामजदगी का पर्चा खारिज करा दिया। इससे चिढ़ कर किसानों ने कम्यूनिस्ट उम्मेदवार को मार डाला। फलस्वरूप कम्यूनिस्तों की सरकार ने बेचारे किसान उम्मेदवार को फाँसी दे दी। मजदूरों के मुक़ाबिले में किसानों के साथ और भी कई किस्म की दुभाँति की जाती है। किसान जच्चा को जितनी छुट्टी और भत्ता मिलता है वह मजदूर जच्चा से आधा होता है। मजदूरों के लिये सरकार की तरफ़ से बीमे का प्रबन्ध है किसानों के लिए नहीं। मजदूरों के लिए बड़े-बड़े रमणीक और आलीशान विश्राम-गृह तथा स्वास्थ-निकेतन बनाये गये हैं लेकिन किसानों के लिए नहीं। किसानों

†The Russion Peasant-John Maynord P. 159.

से कर वसूल करने में भी सोवियत सरकार—मजदूरों यानी कम्यू-
निस्टों की डिक्टेटरशाही ने कसाई-पन से काम लिया।

प्रेसीडेन्ट पापा कालिन तक को यह कहना पड़ा कि, "कई
मौकों पर नाज उगाने वाले अफसरों ने किसानों से तिनका
तिनका वसूल कर लिया। अब तक शहरी लोग बिना कुछ मुआ-
विज़ा दिये किसानों की रोटी खाते रहे हैं। आज भी रूस में कि-
सानों से जितना कर लिया जाता है उतना जार के जमाने में भी
नहीं लिया जाता था। यही क्यों, उतना खुद रूस की कम्यूनिस्ट
सरकार आज से पन्द्रह बीस बरस पहले तक नहीं लेती थी!
कम्यूनिस्ट डिक्टेटर-शिप में रूस के किसान मक्खियों की मौत
मरे हैं। १६२१—२२ में तीस लाख भूख की ज्वाला में जलकर मरे!
प्रथम पञ्च-वर्षीय योजना के समय जब कुलकों—आसूदा
किसानों, की बरबादी की नीति का ऐलान किया गया तब कोई
चालीस लाख किसानों की तमाम जायदाद छीन कर न सिर्फ
उन्हें बे घर—बार कर दिया गया बल्कि उनका भूखों मरते कैदियों
के कैम्पों में, साइबेरिया वगैरह;में बेगार में कठिन से कठिन क्रूर
कर्म कराये गये जिसके फलस्वरूप हजारों बे मौत मरे! कुलकों
की इस बरबादी के सिलसिले में पाँच लाख किसान तो वैसे मारे
गये लेकिन जब स्तालिन की सरकार के इस नीति के विरोध-
स्वरूप किसानों ने सिर्फ उतना अनाज पैदा किया जितने से
केवल उनका गुजारा हो सके और सरकार के लिए कुछ न बचे।
तब स्तालिन ने किसानों का वह सब नाज जबरदस्ती ले लिया।
किसानों के पास खाने को अनाज नहीं रहा और बीस—चालीस

लाख किसान भूखों मर गये ! इसी सिलसिले में किसानों ने अपने करोड़ों जानवरों को, गायों, शूकरों, घोड़ों वग़ैरह को इस डर से मार खाया कि जिससे सरकार उन्हें न छीन ले जाय। जब कुलकों की वरवादी की जा रही थी तव उनके वाल-बच्चों का करुण क्रन्दन सुन कर न सिर्फ़ गाँव वाले ही वल्कि लाल सेना के सिपाही तक रो पड़ते थे * लेकिन कसाई कम्यूनिस्ट का हृदय नहीं पसीजता था ! मौरिस हिन्दस तक ने यह लिखा है कि बूढ़े किसान डर के मारे चुप रहते थे और उन के वालक भीख माँग माँग कर पेट भरते थे।

परन्तु इस क्रूर दमन से भी कम्यूनिस्ट-सरकार किसानों को प्रोलीतेरियत या साम्यवादी न वना सकी। जिस समय उन्हों ने अपनी सरकार क़ायम की थी उस समय भी सिर्फ़ मज़दूर कम्यूनिस्टों के साथ थे। किसानों में सामाजिक क्रान्तिकारियों का ज़ोर था। कम्यूनिस्ट-सरकार क़ायम होने के वाद किसानों की जो पहली अखिल रूसीय काँग्रेस बुलाई गई थी उस में किसान प्रतिनिधियों ने लैनिन के सामने उसके प्रति अपना रोष और विरोध प्रकट किया था। कम्यूनिस्टों का राज चालू होने पर किसानों ने ही कम्यूनिस्ट-सरकार तथा मज़दूरों को नाज देना छोड़ कर उन साम्यवादी सिद्धान्तों को छोड़ कर नई आर्थिक नीति से काम लेने के लिए विवश किया और इसके वाद कम्यूनिस्ट-सरकार ने दो बार फिर किसानों को साम्य-वाद की ओर लाने की कोशिश की लेकिन दोनों बार नाकामयाब रही अन्तिम

*Russion Peasand P. 255.

प्रयत्न के बाद भी किसानों ने सामूहिक खेती के जिस ढङ्ग को स्वीकार किया वह वास्तव में खेती का राष्ट्रीकरण नहीं केवल सहयोगी खेती है। सामूहिक खेती के तीन स्वरूपों में से पूरी साम्यवादी खेती पच्चीस बरस बाद सिर्फ एक फीसदी हो सकी है। तीसरे प्रकार की खेती सिर्फ गड़रियों की साझेदारी की पद्धति है। असली सामूहिक खेती यानी नब्बे फीसदी से ज्यादा किसान सामूहिक खेती में सब मेम्बरों का हक मानते हैं। इनके जिन्दे व मरे पशु भी शामिलात रहते हैं लेकिन सरकारी लगान देने के बाद जो बचत होती है वह मेम्बरों में उनके हिस्से के हिसाब से बँट जाती है। ये मेम्बर अलग २ परिवारों में रहते हैं। इनके हिस्से की बचत इनकी वैयक्तिक सम्पत्ति होती है जमीन पर मेम्बरों को दवामी हक है। उन्हें इस हक के सार्टीफिकेट सरकार की तरफ से दिये गये हैं। इसके अलावा हर मेम्बर को गाय और उसके घर के आस-पास एक-एकड़ से लेकर पाँच एकड़ तक जमीन निजी खेती के लिये अलग मिलती है। इस तरह किसानों ने क्रूर दमन और कम्यूनिस्ट-सरकार की तमाम शक्ति लगने के बाद भी सिर्फ नाम-मात्र की सामूहिक अमल में सहयोगी खेती भी तभी मंजूर की है जब उनके वैयक्तिक सम्पत्ति, वैयक्तिक व्यापार और कई बीघे जमीन पर उनको निजी मिल्कियत के हक को मंजूर कर लिया गया। इन सामूहिक फार्मों से कम्यूनिस्ट-सरकार के तीन फायदे हैं :—(१) उन्हें लगान अथवा टैक्स वसूल करने में सहूलियत होती है। (२) मजदूर मिलने में आसानी होती है तथा (३) लड़ाई के वक्त इनमें

भरती करने में भी आसानी होती है।

इन बातों से यह स्पष्ट है कि रूस की कम्यूनिस्ट-सरकार पच्चीस बरस के प्रचण्ड प्रचार और घनघोर दमन के बाद भी रूस के किसानों को साम्यवादी नहीं बना सकी। उसे किसानों की जमीन पर दमामी हक़ देने पड़े। उनका यह हक़ पैतृक है। जिन्दगी तक ही यह महदूद नहीं। उन्हें छः बरस तक अपने खेत पट्टे पर उठाने का भी हक है और खेती के काम के लिये नौकर और मज़दूर रखने का भी हक़ है। रूस के किसानों और रूस कम्यूनिस्ट-सरकार के इस संघर्ष में कम्यूनिस्ट-सरकार को लैनिन और स्तालिन दोनों को बार-बार मुँह की खानी पड़ी है। इतनी हार कि ट्राट्स्की आदि बहुत से कम्यूनिस्ट तो यहाँ तक कहते हैं कि रूस की कम्यूनिस्ट-सरकार ने किसानों से हार मान कर साम्य-वाद और मज़दूर-वर्ग दोनों को ताक पर रख दिया है। मिल इरविन इत्यादि अनेक विचार-शील तथा बहुज्ञ लेखकों ने किसानों की इस विजय का वर्णन किया है। इस संघर्ष की, किसानों की इस विजय की और किसानों पर कम्यूनिस्ट-रूस में की गई—क्रूरताओं की कहानी इतनी विस्तृत और शिक्षा-प्रद है कि उसका वर्णन अलग पुस्तक में ही हो सकता है। उसके लिए अलग अध्याय रखने से भी इस पुस्तक का कलेवर बहुत बढ़ जाने का डर है इसलिए यहाँ पाठकों को इतने से ही सन्तोष करना पड़ेगा।

लैनिन के नेतृत्व में बोल्शेविकों ने जो डिक्टेटरशिप कायम की वह रूस की जनता के बहुमत की राय लेकर नहीं की बल्कि

सही बात यह है कि जनता के बहुमत के विरुद्ध की। रूस में बहुमत किसानों का था और किसान बोल्शेविकों के पक्ष में नहीं थे। यहाँ तक कि कम्यूनिस्टों की डिक्टेटरशिप क़ायम हो जाने के कुछ महीने बाद ही जब जनवरी १९१८ में रूस की बाक़ायदा चुनी हुई विधान-निर्मात्री एसैम्बली की बैठक हुई तब तमाम सरकारी प्रभाव के बावजूद भी उस असेम्बली ने "तमाम ताक़त सोवियेतों को" देदी जाय इस प्रस्ताव को ना मंजूर कर दिया। प्रस्ताव के पक्ष में सिर्फ़ एक सौ छत्तीस वोट आये और खिलाफ़ दो सौ सैंतीस। इस तरह रूसी जनता के चुने हुये प्रतिनिधियों का बहुमत अपने विरुद्ध पाकर लैनिन ने विधान निर्मात्री कमेटी को ही भंग कर दिया। यह कम्यूनिस्ट सरकार लोक प्रिय कभी नहीं रही। इसके खिलाफ़ जनता में बहुत भारी असंतोष रहा है। अपने राज के साल भर के भीतर ही अगस्त उन्नीस सौ अठारह में इस क्रान्ति-कारी कम्यूनिस्ट सरकार की बुरी से बुरी हालत थी। पीट्रोग्राड में लोग भूखों मर रहे थे। सालभर के भीतर ही किसानों के सैंतालीस के क़रीब विद्रोह हुये जिन्हें लैनिन, ट्राटस्की और स्तालिन की सरकार ने क्रूरता के साथ दबाया। सितम्बर उन्नीस सौ अठारह के पहले पन्द्रह दिन के भीतर पाँच सौ से अधिक पूँजीपतियों और अफसरों को सरसरी न्याय के बाद गोली से मार दिया गया। लैनिन की कम्यूनिस्ट सरकार के खिलाफ सामाजिक क्रान्ति कारी नाम के समाजवादी दल में ही इतना असंतोष था कि इस दल की एक महिला ने अठारह सितम्बर १९१८ को लैनिन को गोली से घायल कर दिया। इस गोली से

लैनिन का स्वास्थ्य सदैव के लिए बिगड़ गया। इस कम्यूनिस्ट सरकार में जनता को तनिक भी राजनैतिक स्वाधीनता नहीं। वहाँ राजनैतिक अधिकारों के लिए, शासन-प्रणाली को बदलने के लिए, व्याख्यान देने के लिए, लेख लिखने सभायें करने, अखबार निकालने वगैरह का उतना भी अधिकार नहीं है जितना पूँजीवादी देशों में है। कहने को १६३६ के विधान से वहाँ सब को वोट देने का अधिकार है परन्तु जब चुनाव के लिए पार्टी फिर चाहे वह किसान सभा हो या मजदूर सभा बनाने का और फण्ड वगैरह इकट्ठा करने का तथा उम्मेदवार खड़े होने या करने का सब को समान अधिकार न हो तब उसके माने ही क्या रहते हैं? इन प्रतिबन्धों का फल यह होता है कि नब्बे फीसदी से ज्यादा जगहों पर सिर्फ एक ही उम्मेदवार खड़ा होता है यानी किसी किस्म का चुनाव ही नहीं होता। सबसे अजीब बात यह है कि किसान और मजदूरों की बताई जाने वाली इस सरकार की यूनियन की कौंसिल में इक्यानबे मेम्बर ऐसे चुने गये हैं जो पुलिस के अफसर तथा कर्मचारी हैं। संयुक्त यूनियन के प्रजातंत्रों को आर्थिक स्वाधीनता तनिक भी नहीं। वे अपना बजट तक नहीं बना सकतीं और खुद मार्क्सवाद के मुताबिक जिन लोगों के हाथ में माली ताक़त होती है वही मालिक होता है। बिना आर्थिक स्वाधीनता के राजनैतिक स्वाधीनता हो ही नहीं सकती। कम्यूनिस्ट रूस में जनता को यह अधिकार नहीं है कि वह अपने लिए जैसी सरकार चाहे चुनले। वहाँ फैक्टरी के मैनेजरों की नुक्ताचीनी करने का हक़ है लेकिन सरकार के

खिलाफ कोई चूं नहीं कर सकता। स्तालिन पार्टी का विरोध करने वाली किसी कम्यूनिस्ट पार्टी का भी प्रेस और समाचार-पत्र वहाँ नहीं चल सकता। सरकारी कर्मचारियों में भी स्तालिन-वादी कम्यूनिस्टों के अलावा और किसी को नहीं लिया जाता। लेनिन ने १९१७ में ही सब को नागरिक स्वतंत्रता देने से मनाही कर दी थी उसी साल ऐसे लोगों को जो १९१७ तक उत्साही क्रान्तिकारी थे केवल इसलिए गिरफ्तार क़ैद तथा कत्ल किया गया था कि वे सोवियत सरकार के विरोधी थे। रूस में कानून है कि अगर किसान सामूहिक फार्म में से अपने ही हाथ से उगाये हुये नाज का तनिक सा हिस्सा चुरा ले तो उन्हें मौत की सज़ा मिलती है। स्तालिन का दमन का इतिहास तो लासानी है। १९३७-३८ में उसमें कम्यूनिस्ट-पार्टी के ही दो हज़ार मेम्बरों को प्राण-दण्ड दिया। ये संख्या तो वह है जो वहाँ के अख़बारों में छपी। इससे अधिक कितने थे कौन जाने? रूसी सोवियत प्रजातन्त्रों के संयुक्त राज्य में तमाम प्रजातन्त्रों के जितने प्रेसीडेन्ट और प्राइम मिनिस्टर थे उनमें से सिर्फ एक को छोड़कर सब को मौत के घाट उतार दिया गया। लाल सेना के अधिकतर अफ़सर, लगभग सभी नाविक एडमिरल और क्रान्तिकालीन लगभग सभी जनरलों को दण्ड दिया गया। विरोधी राजनैतिक कैदियों पर वहाँ ये जुल्म किये जाते हैं कि उन्हें महीनों घोर अन्धकार में रख कर एकाएक बिजली के प्रचण्ड प्रकाश में कर दिया जाता है, महीनों सोने नहीं दिया जाता। कोठरियों के द्वार पर खड़े गार्ड बेयोनेट लिये खनखनाते

हैं। इन्हीं अत्याचारों से विवश होकर क़ैदी पागल हो जाते थे। अधिकारियों द्वारा लिखे गये किसी भी इक़बाल पर दस्तखत कर देते थे! रूस में राजनैतिक कारणों से क्रान्ति से लेकर १६३८ तक बीस बरस में दस लाख के क़रीब लोग काम आ चुके थे! लैनिन की राजनैतिक ब्यूरो में यानी कार्य-कर्त्री कमेटी में नौ मेम्बर थे। इन में से सब के सब पुराने कम्यूनिस्ट थे जो ज़ार की क़ैदों में तप चुके थे। इनमें से स्तालिन ने १६३४ से लेकर १६३८ तक सब को खत्म कर दिया! उनमें से लैनिन अपनी मौत मरा। ट्रोयस्की ने खुदकुशी की बाक़ी सब स्तालिन की दमन-नीति के शिकार हुये। स्तालिन के समय में नियुक्त पोलिट ब्यूरो के एक मेम्बर ने भी इसी प्रकार आत्म-घात किया। घोर दमन की यह कहानी भी बहुत लम्बी है, यहाँ इसका उप-संहार मैक्सईस्टमैन के इन शब्दों में किया जाता है कि यदि बेक़सूर लोगों के बहाये हुये खून को नापा जाय तो हिटलर का बहाया हुआ खून एक तालाब के बराबर निकलेगा तो स्तालिन का झील के बराबर! *

रूस में कम्यूनिस्ट राज से वहाँ के मजदूरों की दशा में भी विशेष उल्लेखनीय सुधार हुआ हो सो बात भी नहीं है। निस्सन्देह वहाँ के मजदूरों को एक मनोवैज्ञानिक सन्तोष अवश्य है कि यहाँ हमारा अपना राज है। कल तक हम जो कुछ भी न थे आज सब कुछ हैं। एक लेखक ने लिखा है कि एक मजदूर ने वहाँ किसी औरत के साथ छेड़-छाड़ की। इस पर उपस्थित

* Stalins Russia P. 87

लोगों ने उसे बुरा-भला कहा तो उस मज़दूर ने कहा कि यह औरत मज़दूर औरत थोड़े ही है। कहने का मतलब यह कि आज के रूस में मज़दूर अपने को उच्च समझते हैं यद्यपि यह बहुत बड़ी चीज़ है। देश की जनता में-किसानों-मजदूरों और गरीबों में सर्वत्र यही मनोवृत्ति पैदा करनी चाहिए परन्तु रूस में यह स्थिति उपर्युक्त सब दुष्परिणामों से प्राप्त हुई है और उससे मनोवैज्ञानिक सन्तोष के अलावा मज़दूरों की आर्थिक स्थिति अथवा राजनैतिक अधिकारों में जितनी उन्नति होनी चाहिये थी उतनी नहीं है। शुरू-शुरू में मज़दूरों की बहुत पूछ थी। शासन में भी उनका हाथ था। फैक्टरियों का प्रबन्ध भी उनके हाथों में था और उनको मजदूरी की जगह जीविका निर्वाह का चन्दा मिलता था। धीरे-धीरे उनके ये सब अधिकार छीन लिये गये। फैक्टरियों का प्रबन्ध उनके हाथ से छीन कर पहले एक कमेटी के हाथ में दिया गया। इस कमेटी में मैनेजर कम्यूनिस्ट पार्टी का सेक्रेटरी और मज़दूर संघ का एक प्रतिनिधि होता था लेकिन १६२७ के बाद यह कमेटी भी तोड़ दी गई और फैक्टरी के प्रबन्ध सम्बन्धी कुल अधिकार फैक्टरी मैनेजर को सौंप दिये गये। पहिले हफ्ते में पाँच दिन काम लिया जाता था अब पूरे सात दिन लिया जाता है। शुरू में दिन में सिर्फ सात घंटे काम लिया जाता था फिर दस घंटे तक लिया जाने लगा। अब यह हालत है कि मज़दूर एक दिन भी काम पर न आवे तो उसे न सिर्फ बरखास्त ही किया जा सकता है बल्कि उसका राशन कार्ड बन्द करके उसे भूखों मारा जा सकता है अब जीविका निर्वाह के भत्ते की

जगह कमेटी बनती है। टौम्स की १९१७ से लेकर १९२९ तक बारह बरस रूस भरके मजदूर-संघों की अखिल रूसी केन्द्रीय कमेटी का सभापति रहा। उसने मजदूरों के अधिकार बनाये रखने को बहुत कोशिश की लेकिन नाकामयाब रहा १९२८ के सितम्बर से यह निश्चत नियम करदिया गया कि मजदूरों की तनख्वाह के लिए फैक्टरियों की आमदनी में केन्द्रीय कमेटी जितना फंड मुकर्रिर कर दे उसे बढ़वाने की मांग कोई नहीं पेश करसकता बेचारे टौयस्की ने सन् १९३१ ई० में आत्मघात-करके अपनी जीवन लीला सामाप्त की। आर्थिक दशा की दृष्टि से जर्मनी, इंगलैडं और संयुक्त प्रदेश अमेरिका के मजदूरों की मजूरी कम्यूनिस्ट राज में रूस में मिलने वाली मजदूरों को मजूरी से कहीं ज्यादा है। इंगलैन्ड के मजदूरों को रूस के मजदूरों से दूनी मजदूरी मिलती है। सन् १९४२ के उत्तरार्ध में प्रसिद्ध अमेरिकन

विण्डल विल्की ने रूस समेत संसार के अनेक देशों की यात्रा की। उस यात्रा के बाद उन्होंने "एक संसार" नामक पुस्तक लिखी जिसकी लाखों प्रतियाँ हफ्तों में बिकीं। इसी पुस्तक में उन्होंने "हमारा साथी रूस" नाम का अध्याय लिखा। उसमें उन्होंने पुस्तक के इक्यानवे मे पृष्ठ पर लिखा है कि दस-दस वर्ष के बच्चों से हफ्ते में बालिगों का पूरा काम छियासठ-छियासठ घण्टे का काम लिया जाता है। उनका कहना है कि कम्यूनिस्ट रूस में मजदूरों को भर्ती करने और उन्हें मजूरी देने के जो तरीके बढ़ते जाते हैं वे अमेरिका के स्वर्थी से स्वार्थी पूंजीपति को संतुष्ट कर सकते हैं।

साम्यवाद के यथा नाम तथा गुण वाले सिद्धांत आर्थिक विषमता को दूर करने को जिस सिद्धांत को बहुत दुहाई दी जाती है वह भी रूस की कम्यूनिस्ट सरकार द्वारा पूरा नहीं हो पाया है। मि० विन्डल विल्की ने अपनी उपर्युक्त पुस्तक के चौअनवें पृष्ठ पर यह लिखा है कि वहाँ एक फैक्टरी के सुपरिन्टैन्डैन्ट ने खुद यह बताया कि मुझे एक होशियार मजदूर के मुकाबिले में दस गुनी ज्यादा तनख्वाह मिलती है। फरवरी सन् १९३६ से न्यू इंटरनेशनल में लिमो सी डौव ने यह लिखा था कि मजदूर-मजदूरों की मजूरी में सोवियत रूस में दस गुना फर्क है और मामूली मजदूर को मिलने वाली तनख्वाह में तथा उसी फैक्टरी के इन्जीनियर की तनख्वाह में तो अस्सी से लेकर सौ गुना तक फर्क है। "क्रान्ति के साथ विश्वास-घात" नामक पुस्तक में स्वयं ट्राटस्की ने यह लिखा है कि मजदूरों की तनख्वाहों में स्तालिन के रूस में जितना फर्क है उतना पूंजीवादी देशों में भी नहीं है।

कम्यूनिस्ट-घोषणा में कहा गया है कि मार्क्सवादियों का सर्वोच्चध्येय वैयक्तिक प्रथा को नष्ट करना है लेकिन रूस में पचीस बरस की डिक्टेटरशिप के बाद भी वैयक्तिक सम्पत्ति की प्रथा सेर में पौनी के बराबर भी नहीं घटी। नई आर्थिक नीति के बाद १९२४ में एक बार फिर वैयक्तिक व्यापार को नष्ट करने की कोशिश हुई लेकिन वह बेकार हुई। १९३० से वैयक्तिक व्यापार फिर खोल दिया गया तब से अब तक वह सोवियत की आर्थिक व्यवस्था का मुख्य अङ्ग है। गाँवों में सामूहिक फार्मों

से आर्थिक विषमता और साम्य-पूंजीवाद खूब फल-फूल रहा है। वैयक्तिक सम्पत्ति इस हद तक मान ली गई है कि लोग अपनी निजी बची पूंजी को सरकारी बैंकों में सात फी सदी ब्याज पर और सेविङ्ग बैंकों में आठ फी सदी ब्याज पर लगा सकते हैं। यह याद रहे कि हिटलर जर्मनी में पूंजीपतियों को कानूनन छः फी सदी से ज्यादा मुनाफा नहीं लेने देता। कम्यूनिस्ट रूस में सरकारी सेविंग बैंकों में ढाई करोड़ लोगों का रुपया जमा है। किसी-किसी लेखक की आमदनी वहाँ लाखों रुपये साल तक है।

लेनिन के कथनानुसार जनता के लिए जहर (अफीम) स्वरूप धर्म-वाद को नष्ट करना कम्यूनिस्टों का मुख्य कर्त्तव्य था परन्तु अपने राज में भी कम्यूनिस्ट अपने इस उद्देश्य को पूरा करने में सफल नहीं हुए, बल्कि विफल हुए हैं। यद्यपि उन्होंने तीन सौ के करीब बिशपों और पादड़ियों को फांसी दे दी फिर भी अप्रैल १९३७ में वहाँ आठ हजार से ऊपर चर्च थे और तीस हजार रजिस्टर्ड धर्म संघ, कस्बों में एक-तिहाई तथा गाँवों में दो-तिहाई लोग धर्म में विश्वास रखते थे। खुद लेनिनग्राड में मुसल्मानों की मस्जिद और बौद्धों का मन्दिर कम्युनिस्टों की विफलता के स्मारक-स्वरूप खड़े हुए हैं। सन् १९४१ में रूस-जर्मन-युद्ध के बाद तो रूस में चर्चों का प्रभाव और भी अधिक बढ़ गया और स्वयं स्तालिन की सरकार ने बाकायदा उनकी सत्ता और धार्मिक-स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को स्वीकार किया। यही हाल देश-भक्ति के बारे में हुआ। सन् १८४८ के कम्यूनिस्ट

घोषणा-पत्र में यह कहा गया था कि मजदूरों का कोई देश नहीं होता लेकिन रूस में कम्यूनिस्ट सरकार कायम हो जाने के बाद थर्ड इन्टर नेशनल खुद राष्ट्रीय हो गई और अन्त में लेनिन-स्तालिन सब को देश-भक्ति तथा पितृ-भूमि की दुहाई देनी पड़ी। इस युद्ध में सोवियत देश-भक्ति समस्त संसार के प्रत्यक्ष आई ?

कम्यूनिस्तों का सब से बड़ा उद्देश्य है, संसार भर में विश्व-व्यापी क्रान्ति कर के सब जगह पोलीतेरियन डिक्टेटरशिप कायम करना। १९१९ तक उन्हें यह विश्वास था कि निकट भविष्य में बहुत से देशों में समाज-वादी क्रान्तियाँ होंगी। लेकिन कुछ ही समय में उनके ये सब सुख-स्वप्न हवा में उड़ गये और अन्त में स्तालिन ने विश्व-क्रान्ति के नारे को छोड़ कर "एक देश में समाज-वाद" का नया नारा बुलन्द किया और आज तो थर्ड इन्टर नेशनल को भङ्ग कर के न केवल विश्व-क्रान्ति का नारा लगाना तक छोड़ दिया है बल्कि पूँजी-वादी और साम्राज्य-वादी राष्ट्रों को हर तरह से यह विश्वास दिलाया है कि हम दूसरे देशों में साम्य-वादी शासन नहीं स्थापित करना चाहते। इस सम्बन्ध में स्तालिन की वैदेशिक नीति बहुत ही विचित्र रही है। कुछ उदाहरण लीजिये। १९२३ की जनवरी में जर्मनी में कम्यू-निस्त क्रान्ति सम्भव दिखाई देती थी। सेक्सोनी में कम्यूनिस्त-मन्त्रि-मण्डल कायम हो गया था। लेकिन जिनोवीव और काम-नेव के साथ स्तालिन ने कार्ल रैडक को वहाँ भेज कर कम्यूनिस्तों को क्रान्ति करने से रोका। तृतीय इन्टर-नेशनल रूस की राष्ट्रीय-संस्था में परिणत कर दी गई। उसका काम सब

देशों में वहां की कम्यूनिस्त पार्टियों की नीति रूस की सोविएट सरकार के हित में सञ्चालित करना मात्र होगया। इसी नीति के फल-स्वरूप चीन में कम्यूनिस्तों के खिलाफ़ वहाँ के राष्ट्रीय दल से भिन्नता की गई और सितम्बर १९२० की बाबू कांग्रेस में जिस ब्रिटिश-साम्राज्य-वाद के विरुद्ध धर्म-युद्ध छेड़ने का निश्चय किया गया था उसी ब्रिटेन से दोस्ती की गई। ब्रिटिश कम्यूनिस्त-पार्टी को हुक्म दिया गया कि वह ब्रिटेन में वहाँ के मजदूर-दल से मिल कर काम करे। पोलैण्ड में भी वहां की प्रतिक्रिया-वादी सरकार का समर्थन किया। इस तरह के अनेक उदाहरण हैं। स्पेन के प्रजातन्त्र को सहायता स्तालिन ने इस शर्त पर देनी मंजूर की कि वहां की सरकार प्रजातन्त्रीय रहे और वहाँ के कम्यूनिस्त ताक़त अपने हाथ में लेने के बजाय लिबरलों के साथ मिल कर काम करें तथा वर्ग-संघर्ष का सवाल न उठावें। १९३१ में जर्मन कम्यूनिस्त पार्टी ने प्रशिया में नात्सियों से मिल कर लोकतन्त्रीय समाजवादी सरकार को पलटने में सहायता दी। १९३३-३४ में जब हिटलर ने जर्मनी में ताक़त छीनी तब वहाँ की कम्यूनिस्त पार्टी ने उसके खिलाफ कुछ भी नहीं किया। १९३७ में चीन की कम्यूनिस्ट पार्टी ने चाङ्ग-काई-शेक से यह पैक्ट किया कि वे वर्ग-संघर्ष के नारे, तथा जमींदारी प्रथा का नाश ही के नारों को स्थगित रखेंगे। जिन सूबों में कम्यूनिस्तों का राज है उनका नाम बदल कर राष्ट्रीय-सरकार से उन्हें सम्बन्धित कर देंगे इत्यादि। १९३९ में रूस की सोवियत सरकार ने हिटलर से पैक्ट कर लिया। जापान से रूस की आज तक दोस्ती है। इन सब बातों

से यह निर्विवाद सिद्ध है कि रूस की कम्यूनिस्त सरकार अब विश्व-क्रान्ति की बात को बिल्कुल ही छोड़ चुकी है। संयुक्तप्रदेश अमेरिका में वहां के कम्यूनिस्तों ने रूजवेल्ट को चुनाव में वोट दी थी। उनकी न्यू डील पालिसी का समर्थन किया था और १६४४ में तो वहां के कम्यूनिस्त नेता ने यहां तक ऐलान कर दिया कि कम्यूनिस्त उन पूँजीपतियों की पूँजी को जब्त नहीं करना चाहते जिन्होंने क़ानूनी तरीक़ों से पूँजी कमाई है।

सोवियत रूस में कम्यूनिस्त नौकरशाही का बोल-बाला है। कम्यूनिस्त नौकरशाहों ने, ख़ास तौर पर किसानों के मामले में जो जुल्म तथा धाँधलियाँ की हैं उनका वर्णन रूस और समरकंद के इतिहास में भरा पड़ा है। स्वयं सोवियत अधिकारियों ने अपनी रिपोर्टों में इस बात को स्वीकार किया है। यों तो लेनिन का कहना था प्रोलीतेरियत डिक्टेटरशिप में पुलिस नहीं रखी जायगी लेकिन आज रूस में जो पुलिस है वह किसी भी देश की पुलिस से कम क्रूर और शक्ति-सम्पन्न नहीं है। मैक्सईस्टमेन आदि अनेक लोगों का कहना है कि रूस में एक नया शासक-वर्ग पैदा हो गया है। इस बिरादरी के लोग लगभग सब के सब कम्यूनिस्त पार्टी के नेता-वर्ग के लोग हैं। इन्होंने सम्पत्ति हीन मजदूरों को अपना गुलाम बना रखा है। उनको न केवल उनकी मेहनत के पूरे फल से वञ्चित कर रखा है बल्कि उनके पास विरोध का कोई साधन ही नहीं रहने दिया है। जान मैनार्ड का कहना है कि रूस में इन कम्यूनिस्त नौकरशाही को नौकरशाही यानी सोवियत नौकरशाही के नाम से पुकारा जाता है। स्वयं

स्तालिन ने कई बार कम्यूनिस्त पार्टी के मेम्बरों को कई बार यह चेतावनी दी है कि वे अब अपने को नेता तथा हाकिम समझने लगे हैं। उनके पैर ज़मीन पर नहीं पड़ते और जनता से उनका कोई सम्पर्क तथा संसर्ग नहीं रहता। जान मैनार्ड ने अपनी "रूसी विकास" नामक पुस्तक के दो सौ चौहत्तरवें पृष्ठ पर यह लिखा है कि खुद स्तालिन ने इस सोवियत नौकरशाही की हृदय-हीनता की खुल्लमखुल्ला शिकायत की।

विचारों का इतिहास

माइकैल फैक्टमैन ने "लैनिन के बाद" नामक पुस्तक में यह लिखा है कि १९२७ के बाद रूस की सोवियत सरकार का ध्येय तुरन्त समाज-वाद कायम करना नहीं रहा बल्कि उनका ध्येय यह होगया कि वास्तविक ढङ्ग पर रूस का पुनर्सङ्गठन करने के नाम पर पूँजीवादी ढङ्ग पर उसका पुनर्सङ्गठन किया जाय। वहाँ लोग जो काम करते हैं वह उसी मुनाफ़े की भावना से या मैडल वग़ैर इनामों की भावना से जिसकी निन्दा करते हुये कम्यूनिष्ट कभी नहीं अघाते। विन्डल विल्की का कहना है कि जितने मैडल रूस में दिये जाते हैं उतने अमेरिका में भी नहीं दिये जाते। स्तालिन के समय में तो पूँजीवादी पद्धति से इतना अधिक काम लिया जाने लगा कि १९३० में पार्टी की आल यूनियन कांग्रेस ने हमेशा के लिए यह कह दिया कि टौयस्की का यह दावा कभी नहीं माना जायगा कि मजदूरों को अपनी तनख्वाह बढ़ाने की माँग करने का हक़ है। शुरू में कम्यूनिस्टों ने कोशिश की थी कि फौज उन्हीं लोगों की बनाई

जाय जो उसमें खुशी से भरती हों लेकिन वह बेकार गई। फौज न बन सकी तब ट्राटस्की ने अप्रैल १६१८ में यह कानून कर दिया कि हर शख्स को १८ बरस से लेकर चालीस बरस तक की उमर में फौज में भरती होना चाहिए। औरतों के लिये भी भरती होना लाजिमी था लेकिन उनके लिये फौजी तालीम लेना न लेना उनकी खुशी पर छोड़ दिया गया था। इन दिनों रूस में घरेलू नौकर भी रखे जा सकते हैं। लिटल पेज और बैस नामक लेखक ने "सोवियत सोने की खोज में" नाम की पुस्तक में लिखा है कि आज रूस "इज्जतदार और हैसियतदार" उन विवाहित लोगों से भरा हुआ है जो अपने बाल बच्चों की उन्नति उसी प्रकार चाहते हैं जिस प्रकार पूँजीवादी देशों के लोग। अब रूस में परिवार प्रथा प्रतिपादित की जा रही है और वहाँ उसका प्रचलन बढ़ रहा है। रूस में इन दिनों स्त्रियों की स्वाधीनता भी कम कर दी गई है। गर्भपात के विरुद्ध केवल प्रचार ही नहीं होता है बल्कि उसके विरुद्ध क़ानून भी बनाया गया है बावजूद इस बात के कि स्त्रियों के भारी बहुमत ने उसका विरोध किया। तलाक भी पहिले से मुश्किल हो गया है। उस पर टैक्स प्रति तलाक बढ़ता जाता है जौन मैनार्ड ने "रूसी किसान" के चार सौ सत्रहवें पृष्ठ पर लिखा है कि रूस में ज्यादा तनख्वाह पाने वाले मजदूरों का मध्य वर्ग बढ़ता जा रहा है। मैक्सिम गोर्की के कथनानुसार आराम कुर्सी पर पड़े रहने वाले लाल राजनीतिज्ञों के आदर्श भी आराम तलबी के होते जा रहे हैं। रूसी सेना के उच्चाधिकारियों तथा अधि-

कारों ज़ार के ज़माने के शिष्टाचार प्रचलित होने लगे हैं। १९३६ का विधान कितना ही उदार दिखाई दे परन्तु स्तालिन, कम्यूनिस्ट पार्टी जब चाहते हैं तब विधान को ताक पर रखकर उसके विरुद्ध मनमानी कार्यवाही कर डालते हैं। उदाहरण लीजिए। कम्यूनिस्ट पार्टी की सैन्ट्रल कमेटी ने एक हुक्म जारी कर दिया कि स्कूलों में विद्यार्थियों की बुद्धि की परीक्षा लेने की जो प्रथा है उसे बन्द कर दिया जाय यद्यपि इस कमेटी को विधान के मुताबिक क़ानून बनाने अथवा इस तरह के हुक्म करने का कोई हक़ नहीं है। "समरकन्द में सूर्योदय" नामक पुस्तक में जो शुआ कुनोज ने एकसौ तैंतीसवें पृष्ठ पर यह लिखा है कि वहाँ पहले ही एक हफ्ते में चालीस हजार मेम्बर भर्ती कर लिये गये और फिर उनमें से एक हजार को छोड़कर बाक़ी सब निकाल दिये गये। मैक्सईस्ट मैन ने "स्टालिन का रूस" नामक पुस्तक में रूस की सोवियत सरकार की शासन की बहुत ही कठोर आलोचना की है। उनका कहना है कि स्टालिन ने न सिर्फ मजदूरों से ही बल्कि कम्यूनिस्ट पार्टी से भी सब शक्ति छीनकर अपने हाथ में करली है। रूस में इन दिनों स्तालिन-पूजा का नया धर्म चलाया गया है। स्तालिन को लोग हमारी आत्मा, हमारा प्यारा, हमारा सूर्य कहकर पुकारते हैं। मैक्स-ईस्टमैन का कहना है कि रूस में अब प्रोलीतेरिएत की डिक्टेटर-शिप नहीं रही अब वहाँ प्रोलीतेरोंयतों पर स्तालिन की डिक्टेटर-शिप है। इनका कहना है कि अब मार्क्सवाद एक मज़हब हो गया है जिसका खुदा मार्क्स है और बोलशेविक नबी। मास्को

उनका मक्का है इन सब बातों से प्रोफ़ेसर ब्रज नारायण ने अपनी "मार्क्सवाद मर गया" नामक पुस्तक में जो यह लिखा है कि मार्क्सवाद मर गया और उसकी लाश सोवियत रूस में दफ़ना दी गई वह अक्षरशः सच है !

ई० स्ट्रौस नाम के सुप्रसिद्ध विद्वान लेखकने "सोविएत रूस" नामक पुस्तक में तीन सौ चौवीसवें पृष्ठ पर लिखा है कि रूस द्वारा पूर्वी पोलैण्ड, वाल्टिक प्रदेशों फिनलैण्ड, वैवोरिया, नोर्दन (उत्तरी बुकोविना, आदि पर आक्रमण उसकी साम्राज्य-वादी प्रवृत्ति का द्योतक है। तीन सौ सोलहवें पृष्ठ पर उन्होंने सन् १६३६ में सोविएतों की काँग्रेस के प्रतिनिधियों का वर्णन करते हुये कहा है कि दो हजार सोलह डेलीगेटों में से नौ सौ सैंतीस कम्यूनिस्टों की केन्द्रीय कार्य-कारिणी कमेटी के सदस्य थे, पाँच सौ नवासी डारेक्टरादि उच्चाधिकारी, अथवा स्थानीय कम्यूनिस्ट पार्टियों के प्रेसीडेन्टादि, चार सौ वीस साधारण मजदूरों से कई गुनी अधिक मजदूरी पाने वाले मजदूर ! वेचारे किसानों के और गरीब मजदूरों के यानी जिन किसान-मजदूरों का रूस में बहुमत है उनके सिर्फ साठ प्रतिनिधि थे। यानी सिर्फ़ तीन फ़ीसदी। इसी पुस्तक के तीन सौ अठारहवें पृष्ठ पर उन्होंने यह लिखा है कि ऐण्डोवेव ने अपनी रिपोर्ट देते हुये गर्व के साथ यह कहा कि हमारी पार्टी यानी कम्यूनिस्ट पार्टी के सेक्रेटरियों में विश्व-विद्यालय की शिक्षा प्राप्त लोगों की तादाद उन्तीस फ़ीसदी है। यानी अब डिग्री-याफ्ता पढ़े-लिखे लोगों के पदाधिकारी होने में पार्टी का गौरव समझा जाता है।

ये सब बातें कम्यूनिस्टों की बुर्जुआ मनोवृत्ति के अकाट्य प्रमाण हैं।

भाष्य और प्रयोग

गान्धीवाद का भाष्य करने और भारत में उसके प्रयोग का वर्णन करने से पहले यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि गान्धी-मार्ग वाद के अर्थ में गान्धीवाद नहीं है। महात्मा गान्धी और उनके शिष्ट भाष्यकार इसी दृष्टि से गान्धीवाद शब्द पर आपत्ति करते हैं। हमने इस शब्द का प्रयोग भाषा की सुबोधता और एकरसता की दृष्टि से किया है। वैसे हम यह मानते हैं कि महात्माजी ने अपना कोई अलग मत चलाने अथवा सम्प्रदाय स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया। निस्सन्देह उन्होंने मानव जीवन और समाज के छोटे से छोटे प्रश्न से ले कर बड़ी से बड़ी समस्या पर अपने सुनिश्चित मत प्रकट किए हैं परन्तु ये सब मत भी वाद के रूप में नहीं। अभी तक वे पुस्तकाकार भी नहीं हुए हैं। महात्माजी के ये विचार अधिकतर सामयिक लेखों तथा टिप्पणियों के रूप में हैं और फ़िर भी बहुत सी बातों पर वे केवल सूत्र रूप हैं। गीता तक पर उनका भाष्य सूत्र रूप है। शासन के स्वरूप के सम्बन्ध में उन्होंने अपना कोई सिद्धान्त या योजना नहीं प्रकाशित की, न उन्होंने किसी नए अर्थ शास्त्र या राजनीति-विज्ञान का ही गढ़ा है। किसी नये नीति-शास्त्र अथवा धर्म-शास्त्र की भी उन्होंने रचना नहीं की परन्तु इन सभी विषयों पर उन्होंने अपने मौलिक और ओजस्वी विचार प्रकट किए हैं।

हिन्दू-धर्म की तरह गांधीवाद भी मत या सम्प्रदाय होकर

जीवन का दर्शन, उसका एक मार्ग, मन का एक रुख अथवा दृष्टि-कोण है। वह सनातन सिद्धान्तों का सामयिक भाष्य अथवा प्रयोग है। गाँधी-मार्ग भगवद्गीता का मार्ग है। गांधी जी का बताया हुआ धर्म गीतोक्त स्वधर्म। महात्माजी ने सनातन हिन्दू-धर्म के सर्वोच्च सिद्धान्तों को उनके शुद्ध और शक्य रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया है। गाँधी का सत्य गीता का ब्रह्म अथवा आत्मा है। सत्य को ही महात्माजी ने परमेश्वर कहा है और गीता भी 'ब्रह्म सत्यं' को मानती है। आज के मानव-समाज में शिक्षित हिन्दुओं को ही नहीं, मानव-मात्र को ज्ञान का जो बोध सत्य शब्द से होता है वह ब्रह्म से नहीं। 'ब्रह्म' शब्द हिन्दुओं का सिक्का है, सत्य का चलन मानव-मात्र में है इसके अतिरिक्त ब्रह्म और सत्य में कोई अन्तर नहीं। महात्मा जी इसी सत्य-नारायण की उपासना करते हैं। उनका सत्यनारायण सत्य की अव्यक्तोपासना का मार्ग है। उनकी दरिद्र-नारायण की सेवा उसी सत्य की व्यक्तोपासना का, आकार अथवा सगुण पूजा का सर्व साधारण सुलभ वह राज-मार्ग है।

जिसे गीता ने कह कर पुकारा है

महात्माजी के सत्य और अहिंसा इन दो मूल सिद्धान्तों में से सत्य साध्य है, अहिंसा साधन। परन्तु उनका साधन साध्य के सर्वथा अनुकूल साध्य-स्वरूपी ही है, दोनों में कोई अन्तर नहीं। अनासक्ति बुद्धि से वे सनातन सत्य-सिद्धान्तों की खोज करते हैं, उन पर विचार करते हैं तथा अनासक्ति योग से उनका

प्रयोग तथा उनकी अनुभूति करते हैं। उनका ज्ञान कर्म मय है और उनका कर्म ज्ञान-जन्य! कर्म बिना ज्ञान उनकी दृष्टि में वन्ध्या है। श्रीमद्भगवद्गीता के व्यावहारिक दर्शन अर्थात निष्काम-कर्मयोग के सिद्धान्त का, सर्वभूतात्मैक्य भाव से लोक संग्रहार्थ निष्काम कर्म करने के सिद्धान्त का दैनिक, वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन में प्रयोग विश्व के इतिहास में प्रथमबार गांधीजी ने ही किया है। उनकी अहिंसा भी निष्क्रिय अथवा नकारात्मक, हिंसा का अभाव-मात्र नहीं, सब से अधिक सक्रिय कर्मशील और सृजनकारी, विधायक स्वयं चेतन मनोधर्म प्रेम है।

सत्य और अहिंसा के रूप में महात्माजी गीता-गंगाजल से संतप्त संसार को सिञ्चित तथा सञ्जीवित कर रहे हैं।

पातञ्जलि-योग के, अहिंसा, सत्य, अस्तेय संयम और अपरिग्रह इन पांच यमों में से संयम को जननेन्द्रिय के संयम यानी ब्रह्मचर्य और स्वादेन्द्रिय के संयम यानी अस्वाद में बाँट कर ही महात्मा जी ने अपनी आत्म-शुद्धि के समस्त कार्यक्रम की रचना की है। गीता के छठवें अध्याय में वर्णित आत्म-संयम-योग में और महात्मा जी की आत्म-शुद्धि की योजना में वही अन्तर है जो ब्रह्म और सत्य में था, यानी केवल शाब्दिक अन्तर, नाम का भेद मात्र, मूलतः दोनों सर्वथा एक हैं।

गान्धीजी का धर्म-धर्म-वाद नहीं, महात्माजी किसी धर्म अथवा मत-विशेष के पक्षपाती नहीं, वह केवल धर्म-भाव है। वह धर्म भाव जो सनातन और सञ्जीवन है, जिसका नाम-रूप भले

ही बदलता रहे, प्रयोग कर्त्ताओं की सीमाओं और आवश्यकताओं के अनुसार परन्तु जिसका तत्व, जिसकी आत्मा सदैव सब को अपनी ओर, विकास, आध्यात्मिक विकास की ओर, खींचती रहती है। यह धर्म सर्व-भूत-हित–रति में प्रकट होता है। दरिद्र-नारायण की, जनता-जनार्दन की सेवा इस धर्म का एक मात्र साधन है। सर्वोदय अथवा सार्वदेशिक प्रेम इस सेवा का साध्य है। महात्माजी की आत्म-शुद्धि में समाज-सेवा तथा आध्यात्मिक कल्याण का सुन्दर समन्वय तथा सामञ्जस्य है।

गान्धीजी का धर्म-सदाचार प्रधान है। नैतिक उत्थान से ही उनके अध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भ होता है। उनका धर्म स्वानुभव गम्य है, जिन सिद्धान्तों से सदाचार की सृष्टि हो, आत्मा का विकास हो, उन्हीं को वे सत्य मानते हैं। गान्धीजी ने अनासक्ति योग में यह लिखा है कि गीता में विधि-निषेध नहीं है। अनासक्ति ही विहित है और निषिद्ध है केवल आसक्ति। परन्तु इस गीता-सिद्धान्त पर आधारित कर्म-शास्त्र को, वे सब के लिए आवश्यक समझते हैं। बिना कर्म-शास्त्र के, वे कोरे धर्म-ज्ञान को लंगड़ा समझते हैं। लोक-सेवा अथवा लोक-संग्रह के लिए, सत्याकर्षण पूर्वक, निष्काम तथा अनासक्ति-भाव से, स्वेच्छा से जो कर्म किए जाँय वे ही उनकी सम्मति में अच्छे काम हैं। गान्धीजी का धर्म-तत्व और नीति-तत्व प्रज्ञा-वाद नहीं कर्मयोग है। गीता के बारहवें अध्याय के ग्यारहवें श्लोक में भगवान् कृष्ण ने जो यह बताया कि आत्मानुभव के समस्त मार्गों में निष्काम कर्म योग ही सर्व सुलभ होने के साथ-साथ सर्व श्रेष्ठ है उसी का प्रयोग

गान्धीजी जीवन और समाज में कर रहे हैं।

सत्य की खोज और उसके प्रयोग के लिए गीता में व्यवसायात्मिका बुद्धि की स्थिरता तथा वासनात्मक बुद्धि की शुद्धता के लिए जिस इन्द्रिय-निग्रह, आत्म-संयम चित्त शुद्धि की, राग-द्वेषादि सहज मनोधर्मों की शुद्धि-बुद्धि नियन्त्रित मन के आधीन करने की अनिवार्य आवश्यकता बताई है उसे ही गांधी जी आवश्यक बताते हैं और वे श्रीमद्भगवद्गीता के इस मत को भी पालते हैं कि यह चित्त-शुद्धि निष्काम लोक-सेवा से सब को सहज सिद्ध हो सकती है।

हमारी प्राचीन संस्कृति के जिस शुद्ध तथा सर्वोच्च स्वरूप को महात्मा गांधी हमारे दैनिक और सार्वजनिक जीवन में प्रविष्ट कर रहे हैं वह जीवन के या सत्य के विभागों को सत्य नहीं मानता, वह जीवन को एक मानता है और इस एक जीवन के समस्त अंशों को उसी एक धर्म के जीवन-धर्म से मर्यादित मानता है इसीलिए गांधी जी की राजनैतिक और गांधीजी की धर्म-भावना अलग-अलग न होकर एक ही हैं। गांधी जी यह मानते हैं कि जीवन विशेषकर सामाजिक जीवन राजनीति ही है। उसे राजनीति से अलग नहीं किया जा सकता इसलिए गांधी जी की राजनीति जीवन और समाज में गांधीजी के धर्म के प्रयोग के अतिरिक्त और कुछ नहीं। जो लोग धर्म और राजनीति के इस सम्मिश्रण पर पाश्चात्य राजनीति विज्ञान के नाम पर आक्षेप करते हैं वे केवल अपने स्वल्प-ज्ञान का प्रदर्शन-मात्र करते हैं। एक तो वे यह भूल जाते हैं कि गांधी जी का धर्म,

'रिलीजन' या मजहब नहीं, सत्य अथवा अधिक से अधिक मानव की अन्तरात्मा, उसका धर्म भाव-मात्र है। दूसरे वे यह भी भूल जाते हैं कि पाश्चात्य राजनीति-विज्ञान के ढाई हजार बरस के जीवन में पहले दो हजार बरस तक धर्म और राजनीति को अलग-अलग नहीं माना जाता था। अफलातूँ अरस्तू आदि यूनानी राजनीति-शास्त्री राजनीति को धर्म अथवा नीति के तत्त्वों का समाज में प्रयोग मानते थे। उनका कहना था कि बिना राज-नीति के बिना अच्छी सामाजिक व्यवस्था-राज व्यवस्था के सामाजिक सदाचार ही नहीं वैयक्तिक सदाचार का विकास सम्भव ही नहीं। राजनीति को धर्म से अलग करने की बात दांते के समय से पश्चिम में उठी और उसी धर्म को राजनीति से अलग करने के लिए नहीं पाश्चात्य राजाओं के क्षेत्र में पाश्चात्य संगठित धम कर्म के हस्तक्षेप को दूर करने के लिये। और यह प्रवृत्ति भी उन्नीसवीं सदी में छोड़ी जाने लगी और अब बीसवीं सदी में प्रमुख राजनैतिक विचार धाराएं धर्म और राजनीति को पृथक-पृथक न मान कर एक ही मानती हैं। महात्मा जी ने राजनीति में धर्म का सम्मिश्रण करके वारांगना राजनीति को योगिनी बना दिया है उन्होंने राजनीति को दल स्वार्थादि के रौरव से निकाल कर बलिदान की वेदी पर प्रतिष्ठित किया है। महात्माजी शासन के स्वरूप को विशेष महत्व न देकर शासन की आत्मा को ही महत्व देते हैं। उनकी राजनीति का ध्येय निश्चित और उद्घोषित है, वह जनता का स्वराज्य, गरीबों का स्वराज्य। इस स्वराज्य में लोकतंत्र और

वैयक्तिक स्वाधीनता का उच्चतम तत्व सन्निहित है। जब तक उस से बेहतर प्रणाली न खोजी जा सके तब तक महात्माजी प्रजा-प्रतिनिधि-तंत्रीय-प्रणाली को पूर्णतया स्वीकार करते हैं परन्तु उनका स्वराज्य स्वार्थ-राज्य नहीं वैयक्तिक जीवन में उत्कृष्ट स्व निकृष्टत्व पर और समाज में समाज के श्रेष्ठत्व या साधारणत्व मर्य्यादा-स्थापन तथा पथ-प्रदर्शन का राज है। इन श्रेष्ठ प्रति-निधियों की प्रचलित चुनाव-पद्धति के दोषों से सुविज्ञ होने के कारण ही वे इस चुनाव की बेहतर पद्धति की खोज में हैं परन्तु जब तक यह खोज सफ़ल न हो तब तक प्रचलित को अपनाने को वे तैयार हैं और श्रेष्ठ प्रतिनिधियों को भी शासन के कम से कम अधिकार देकर यानी शासित जनता को समस्त प्रचलित लोक-तन्त्रों से कहीं अधिक स्वाधीनता देकर उसके दोषों को मिटा न सकने तक घटा अवश्य देते हैं। उनकी इस जन-स्वातंत्र्य-प्रियता के कारण उन्हें अराजकतावादी तक कहा जाता है। यह स्पष्ट है कि गरीबों को, जनता को, सर्व साधारण को जितनी शक्ति और जितनी स्वाधीनता महात्माजी देते हैं उतनी लोकतन्त्र, फासिस्ट-वाद और मार्क्स-वाद में कदापि नहीं मिलती।

गान्धीजी की युद्ध-नीति अहिंसा पर आधारित, उसी से प्रेरित और संचालित तथा उसी से मर्यादित है। सत्याग्रह और असहयोग-दोनों अहिंसात्मक-उनके "धर्ममय रथ" के दो पहिये हैं। इस प्रकार गान्धीजी की राजनीति में शक्ति सैंक्शन (Sanction) और हथियारों (Weapons) की कमी नहीं। जब कि वैज्ञानिक आविष्कारों के फल स्वरूप बढ़ी हुई शासक

तथा शोषक वर्ग की संहारक-शक्ति के सामने हिंसा द्वारा जनता-जनार्दन की विजय संसार के सभी विचारक असम्भव समझने लगे हैं तब, इस विश्व-व्यापी असहायता के युग में महात्मा गान्धी ने अहिंसात्मक सत्याग्रह और अहिंसात्मक असहयोग का वह शस्त्रास्त्र समस्त सन्तप्त सर्व साधारण को दिया है जिस को ठीक ही युद्ध का नैतिक प्रतिनिधि-पर्याय स्थानापन्न कहा जाता है और जिसकी अमोघता तथा उपादेयता को अनेक जगत् प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् शास्त्रीय तथा वैज्ञानिक विवेचन द्वारा प्रतिपादित करने लगे हैं। वे यह मानने लगे हैं कि सत्या-ग्रह और भद्र अवज्ञा अन्याय का सामना करने तथा व्यक्ति और समाज की मूर्छित आत्मा अथवा उनके मूर्छित देवत्व, ईश्वरत्व को जगाने का ब्रह्मास्त्र है।

गाँधी जी भव-सागर में जीवन-जहाज को जिस समय वह शुद्ध-बुद्धि रूपी कमान की अधीनता में न हो उस समय सत्य रूपी लङ्गर से अलग दौड़ने खुला छोड़ने को तैयार नहीं हैं इसी लिए उनका अर्थ-शास्त्र भी सत्य पर अध्यात्मवाद पर आधारित है। उनके स्वराज्य में असह्य आर्थिक विषमता तथा आर्थिक पराधीनता असम्भव है। उसमें न कोई भूखा रहेगा न कोई नंगा। न कोई बेकार होगा न कोई बे-घर-बार। गांधीजी के निम अपरिग्रह में अपनी आवश्यकता से अधिक चीज का संग्रह तथा उपयोग चोरी है उसमें पूँजीवाद के लिए जगह हो ही नहीं सकती। गाँधी जी पूँजीवाद रूपी पूतना का जन्म तक नहीं होने देना चाहते। उनके अर्थ-शास्त्र में शोषण को उतनी

ही गुञ्जाइश है जितनी प्रकाश में अन्धकार की। गाँधी जी के अर्थ-शास्त्र में उतनी वैयक्तिक सम्पत्ति को रखने की भी इजाजत नहीं है जितनी आज सोवियट रूस में पच्चीस वरस की कम्यूनिस्ट डिक्टेटरशिप के वाद कानूनी है। भारत के नव्वे फी सदी निवासी गाँवों में रहते हैं। इङ्गलैण्ड के नव्वे फी सदी शहरों में। भारत में पिचहत्तर फीसदी किसान हैं, इङ्गलैण्ड में पिचहत्तर फी सदी से भी अधिक कारखानों के मजदूर, इसलिए गाँधी जी यह सर्वमान्य वात कहते हैं कि इङ्गलैंड का शहरों और फैक्टरियों वाला अर्थ-शास्त्र भारत के गाँवों और किसानों का अर्थ-शास्त्र नहीं हो सकता। गाँधी जी मशीनों के, या वड़े-वड़े उद्योग-धन्धों का प्रयोग यदि समाज के कल्याण के लिए अनिवार्यत: आवश्यक हो तो गाँधी-वाद सहर्ष उसकी आज्ञा देता है परन्तु वह हर-हालत में यह देख लेना चाहता है, कि इन मशीनों और इन उद्योग-धन्धों से गाँवों और किसानों का नाश या नुकसान तो न होगा। वे मशीनों और उद्योग-धन्धों पर गाँवों तथा किसानों की वलि देने को हरगिज तैयार नहीं हैं। अफलातूँ आवश्यकताओं को समस्त मानव कार्यों का कारण मानता था। कार्ल मार्क्स आवश्यकताओं की पूर्ति के साधनों को। परन्तु गाँधीजी आवश्यकताओं और आवश्यकता पूर्ति के साधनों दोनों को कार्य मानते हैं। उनके मत में कारण सिवा सत्य अथवा परमात्मा के और कुछ नहीं इसलिए वे आवश्यकताओं की उन्नति का प्रेरक कारण न मानकर, आत्मा को प्रेरक कारण मानते हैं और आत्मिक कल्याण–आत्म-शुद्धि

के हित में आवश्यकताओं को मर्यादित रखना अनिवार्यत: आवश्यक है। राष्ट्रीय सम्पत्ति से राष्ट्रीय हित का सम्बन्ध इन्हें अस्वीकार नहीं है परन्तु जगत्प्रसिद्ध अँग्रेज अर्थ-शास्त्री—ए० सी० पीगू के मतानुसार वे केवल येन केन प्रकारेण राष्ट्रीय सम्पत्ति की वृद्धि से ही राष्ट्रीय हित हो जायगा, ऐसा नहीं मानते। पीगू के मतानुसार महात्मा जी का भी मत यह है कि राष्ट्रीय सम्पत्ति के आधार पर राष्ट्रीय हित का निर्णय करते समय हमें वह सम्पत्ति किस प्रकार उत्पन्न अथवा उपार्जित की जाती है, उसका वितरण तथा उपयोग किस प्रकार होता है ये तीनों बातें उसकी वृद्धि से कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। और इन सब बातों का अर्थ यह भी नहीं है कि गांधी जी का जीवन राख की विभूति रमाये फकीरों का ही जीवन है। उस जीवन में सम्पत्ति तथा अर्थ-शास्त्र का समुचित स्थान है। उन्होंने केवल पूँजीवाद पाश्चात्य समाज की पूँजी-पूजा को दूर करने के लिए मूल्यों का पुनर्मूल्यीकरण किया है। उनके अर्थशास्त्र में विना श्रम किये खाना जुर्म और पाप है। और साथ ही उनके धर्म-शास्त्र, कला कविता, सौन्दर्य और सम्पत्ति का भी समुचित स्थान है। सरोजिनी नायडू और भूलाभाई देसाई इसके जीवित प्रमाण हैं। उनका स्वदेशी ही उनका राष्ट्रीय अर्थ-शास्त्र है। वे जीवन की प्रारम्भिक आवश्यकताओं में, भोजन तथा वस्त्रों में प्रत्येक गाँव और स्वदेश को स्वयं पर्याप्त तथा स्वावलम्बी बनाना चाहते हैं।

यद्यपि गान्धी जी ने भारतीय राष्ट्र को अपने प्रयोग का

क्षेत्र बनाया हुआ है और भारतीय राष्ट्र की स्वाधीनता इस समय उनका प्रमुख ध्येय है परन्तु गान्धी जी की राष्ट्रीयता पाश्चात्य राष्ट्रीयता नहीं। उनकी राष्ट्रीयता भी राजनैतिक न होकर नैतिक तथा आध्यात्मिक है। उनकी यह राष्ट्रीयता उनके विश्व प्रेम की सीढ़ी है। भारत की स्वाधीनता गांधीजी के लिए उनकी विश्व-सेवा और मानव-सेवा का साधन मात्र है। स्वयं महात्मा जी ने यह कहा है कि मैं भारत की स्वतन्त्रता द्वारा यूरोपीय शोषण के घातक पीड़ित से पीड़ित समस्त मनुष्य जातियों का उद्धार करना चाहता हूँ। भारत को स्वाधीन करके वे स्वाधीन भारत द्वारा समस्त सन्तप्त संसार को शान्ति, स्वाधीनता, समता और सहभ्रातृता का सन्देश देना चाहते हैं। इस तरह वे भारतीय स्वाधीनता को विश्व-शान्ति तथा मानव -स्वाधीनता की कुञ्जी समझते हैं। गान्धी जी की इस विश्व-प्रेममयी राष्ट्रीयता को, मार्क्सवादियों की अन्तर्राष्ट्रीयता से भी ऊँची तथा अधिक कारगर राष्ट्रीयता के इस उदार तथा विशाल स्वरूप को जनरल स्मस्ट जैसे ब्रिटिश साम्राज्य के स्तंभ तक ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। गान्धी जी के सिद्धान्त उनके कार्यक्रम हैं। उनका कार्य-क्रम राष्ट्र-रचना का कार्य-क्रम है। यों तो उनके रचनात्मक कार्य-क्रम के अठारह विभाग हैं परन्तु मुख्यतः उसे चार भागों में बाँटा जाता है:—(१) खादी और चरखा, (२) हरिजन-सेवा, (३) हिन्दू-मुस्लिम एकता और (४) राष्ट्रीय शिक्षा। इनमें पहला आर्थिक कार्य-क्रम है, दूसरा सामाजिक, तीसरा राष्ट्रीय तथा चौथा तीनों का मूलाधार।

चारों में परस्पर अङ्गाङ्गी सम्बन्ध है।

गान्धीजी ने अपने जीवन में खादी और चरखे पर बहुत अधिकजोर दिया है। वे अपने को बड़े गर्व के साथ खादी के पीछे पागल करार देते हैं फिर भी खादी और चरखे के महत्व को अभी तक मानसिक और राजनैतिक दासता में ग्रस्त हमारे दशवासियों ने भली भांति नहीं समझ पाया है उन्होंने यह नहीं समझ पाया है कि जिस तरह मार्क्स-वाद कारखानों में काम करने वाले मजदूरों को एक दर्शन तथा कार्य-क्रम देता है उसी प्रकार गान्धीजी का चरखा सिद्धान्त भी किसानों का संजीवन-धर्म और कारगर कार्य-क्रम है। आर्थिक दृष्टि से चरखे का आविष्कार अद्वितीय है। लेखक अर्थ-शास्त्र का विद्यार्थी है। इलाहाबाद विश्व-विद्यालय में अर्थ शास्त्र में ही उसने एम० ए० किया है। इसके अतिरिक्त भारतीय किसानों की समस्या को उसने अपने जीवन के अध्ययन का विशेष विषय बनाया है। अपने अब तक के समाज-अध्ययन और जीवन के पूरे अनुभव के आधार पर वह निसङ्कोच यह कह सकता है कि भारत के किसानों की आर्थिक समस्या का हल करने के लिए चरखे की बराबरी का कोई भी कार्य-क्रम इस देश की सरकार अथवा राजनैतिक दल नहीं उपस्थित कर सका है। समस्त भारतीय अर्थ शास्त्राचार्य फिर चाहे वे हिन्दुस्तानी हों या अंगरेज इस बात में सर्व सम्मत हैं कि भारत के किसानों को साल में कम से कम पाँच महीने के क़रीब पूरे समय के लिए और पूरे साल भर तक घर के बूढ़े-बड़ों और विधवादि के लिए

सहायक धन्धों की अनिवार्य आवश्यकता है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए अर्थ-शास्त्रियों ने जितने सहकारी धन्धे बताये हैं और जितनों पर सरकार ने पिछले पचीस वरसों में सार्वजनिक रुपया खर्च कर के प्रयोग किया है उनमें से एक भी खद्दर तथा चरखे के पास तक नहीं फटक सकता। चरखे के लिए न पूँजी चाहिए, न विशेष शिक्षा। दो-तीन रुपये की पूँजी में चरखे का धन्धा शुरू हो जाता है। कताई वगैरह सीखने के लिए भी गाँव से बाहर किसी पाठशाला में जाने की जरूरत नहीं। रुई का कच्चा माल मैदान में तथा ऊन तकली पहाड़ में आसानी से मिल सकती है। इससे काती हुई रुई या ऊन अपने ही घर के कपड़े बनवाने, बुनवाने के काम में आ सकती है। यह धन्धा हर मौसम में हर घर में हर समय सुविधानुसार किया जा सकता है। घर में ही उसके अनेक सम्बन्धित धन्धे, उटाई, धुनाई, पौनी बनाई इत्यादि हो सकते हैं। और इतनी थोड़ी पूँजी से, सर्वत्र सुलभ शिक्षा द्वारा कोई भी व्यक्ति, बूढ़ी औरतें तक, इतना कमा सकता है कि जो भारतीय किसानों की रोजाना औसत आमदनी से अधिक है। आज समस्त भारतीय अर्थ-शास्त्री खद्दर और चरखे की इस महिमा को सहर्ष स्वीकार कर चुके हैं। आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय सरीखे वैज्ञानिक भी खादी तथा चरखे के कट्टर समर्थक हैं। इस सम्बन्ध में लेखक अपने एक अनुभव को नहीं भूल सकता। सन् १९३७ में जब वह संयुक्त प्रान्तीय सरकार का प्रान्तीय ग्राम-सुधार अफसर था तब इस हैसियत से दिसम्बर के

सरकार की ओर से कई प्रोफेसर अच्छी तनख्वाहों पर केवल ग्राम्य-उद्योग-धन्धों का अध्ययव करने के लिए रखे थे। उन्होंने लेखक को मधुमक्खी पालने, रेशम के कीड़ों को पालने इत्यादि के तीन चार घरेलू उद्योग-धन्धों के सम्बन्ध में अपने अध्ययन के फल दिखाये। परन्तु जब लेखक ने उस विशेषज्ञ प्रोफेसर मंडली से यह पूँछा कि क्या आप यह बता सकते हैं कि एक ऐन्ट्रेन्स पास नवयुवक इन में से किसी भी एक को आठ घण्टे रोज़ कर के निश्चत रूप से पन्द्रह रुपये महीने कमा सकेगा तो उन्होंने स्पष्टतया यह स्वीकार किया कि वे इस प्रश्न का निश्चित उत्तर नहीं दे सकते। अपने बाईस वर्ष के सार्वजनिक जीवन में सूबे की लेजिस्लेटिव कौंसिल, केन्द्रीय एसेम्बली या डिस्ट्रिक्ट बोर्ड में अथवा बाहर के राजनैतिक दलों में लेखक को कोई भी यह नहीं बता सका है कि चरखे और खादी की जगह ले सकने वाला दूसरा सहायक धन्धा कौन सा है? इस महायुद्ध में तो चीनादि के अनुभव ने खादी और चरखे की उपयोगिता को और भी सर्वमान्य कर दिया है। जब हवाई जहाजों की बमों से फैक्टरियाँ नष्ट कर दी जाती हैं। तब कपड़े की समस्या चरखे-करघे से ही हल हो सकती है। इसी के फल-स्वरूप चीनी कम्यूनिस्टों को चीन में लाखों चरखे और हजारों करघे चलवाने पड़े। अमेरिका और यूरूप में भी बेकारों तथा अकाल पीड़ितों की सहायता के लिए चरखे की उपयोगिता वहाँ के विद्वान् तथा अनुभवी लोक-सेवक स्वीकार करने लगे हैं। इसके अतिरिक्त चरखा केवल सहायक धन्धा ही नहीं, वह समाज की आर्थिक

व्यवस्था का वह ढङ्ग है जो शोषण और पूँजीवाद की जड़ पर कुठाराघात करता है उसे पैदा ही नहीं होता। जहाँ सर्व साधारण के हिमायंती साम्यवादी और समाजवादी बड़े पैमाने पर उद्योग धन्धों का, कारखानों और पूंजीवाद का समर्थन करके गांवों का और गाँवों की सभ्यता का सर्वनाश चाहते हैं तथा ग्रमीणों को उन्मूलित करके उन्हें किसान से कुली बनाते हैं वहाँ चरखा किसानों की कामधेनु और गाँवों की सभ्यता का संजीवन है। पूँजीवाद के लिए चरखा चक्र-सुदर्शन है। खादी हिन्दुस्तान में केवल सहायक धन्धे, वस्त्रावलम्बन आदि आर्थिक समस्याओं की ही पूर्ति नहीं करती वह देशी पूँजीपतियों के शोषण से ग़रीबों तथा सर्व साधारण को बचाती है। इसके साथ ही साथ वह उच्च श्रेणी वालों और सर्व साधारण में, शहरवालों और गाँव वालों में मेल तथा एकता स्थापित करती है। अखिल भारतीय चरखा सङ्घ और खादी-भण्डार इस कार्य को जिस उत्साह तथा सफलता के साथ कर रहे हैं वह सर्वथा उत्साह-वर्द्धक है। खादी और चरखे का प्रचार देश व्यापी हो जाय तो, और स्वाधीन भारत में उसके देश-व्यापी होने में कोई सन्देह नहीं हो सकता तो करोड़ों किसानों की सहायक धन्धे की समस्या, बेकारी की और आर्थिक उन्नति की समस्या सहज में ही हल हो जाय। अब तो ग्रामोद्योगों का एक और विभाग स्थापित करके महात्माजी ने ग्रामों के सहायक धन्धों की ही नहीं, समस्त ग्रामीण उद्योग-धन्धों की समस्या को हल करने का भगीरथ-प्रयत्न प्रारम्भ किया है। इस दिशा में भी उनके प्रयोग अभूत-

पूर्व और पथ-प्रदर्शक हैं। यह पहले कहा जा चुका है कि गान्धी जी के कार्य-क्रम के चारों अङ्ग परस्पर सम्बन्धित हैं। चुनाँचे चरखा और खादी हरिजनों और मुसलमानों की बेकारी, अर्द्ध-बेकारी और ग़रीबी की समस्या को भी उतना ही हल करती है जितना हिन्दुओं की। लाखों हरिजन और मुसलमान इस समय भी ग्रामोद्योगों विशेषकर खादी और चरखे के उद्योग से भरपूर लाभ उठा रहे हैं। जन-संसर्ग स्थापित करने के लिए, गावों की जनता में घुस कर उनकी सेवा करते हुये उनका विश्वास प्राप्त करने तथा उन्हें जाग्रत और सङ्गठित करने के लिए भी खादी चरखा और ग्रामोद्योग का कार्य-क्रम सर्वोत्तम कार्य-क्रम है। जिस, जन-संसर्ग के लिए रूस के उन्नीसवीं सदी के सुशिक्षित क्रान्तिकारी अपने चेहरों पर तेज़ाब डाल कर या बढ़ईगीरी वग़ैरह के कार्य सीखकर कठिनाई से पहुँच पाते थे वह गान्धीजी के रचनात्मक कार्य-क्रम द्वारा अपने आप प्राप्त हो जाता है। रिचार्ड-बी-ग्रैग आदि पाश्चात्य लेखकों ने भी "खादी का अर्थ-शास्त्र" नाम की पुस्तक लिखकर मानसिक दासता और अपनी लघुता के भाव से बुरी तरह ग्रस्त पढ़े लिखे नौजवानों के भ्रम को भली भाँति दूर कर दिया है।

गान्धीजी का हरिजन-सेवा का कार्य-क्रम हिन्दुओं की आत्म-शुद्धि अथवा उनकी पाप-निवृत्ति का कार्य क्रम है। इस दृष्टि से हिन्दू-जाति की जितनी सेवा और भलाई इस काल में महात्मा गान्धी ने की उतनी शेष समस्त हिन्दुओं ने मिलकर भी नहीं की। मैकडानल्ड.....फैसले द्वारा ब्रिटिश साम्राज्य-

शाही ने सदा के लिए हिन्दू-समाज को टुकड़े २ करने की जो व्यवस्था की थी उसको केवल महात्मा गान्धी ने अपने प्राणों की बाजी लगाकर, आमरण अनशन करके की। हिन्दुओं के और किसी नेता में न तो इतना साहस ही था न इतनी सामर्थ्य ही। यह अकेले महात्मा गान्धी के बलिदान और तपोबल का सुफल है कि आज हरिजन हिन्दू-समाज में ही बने हुये हैं। हरिजनों की भी जितनी सेवा महात्मा जी ने की उतनी संसार में और किसी ने नहीं की। और किसने हरिजनों के साथ न्याय करने के लिए, द्विजों की अन्तरात्मा को जगाने के लिए इक्कीस दिन का जीवन को संशयास्पद बनाने वाला व्रत किया? और किसने हरिजनों के लिए इतना रुपया इकट्ठा करके उनके लाभार्थ इतनी संस्थायें स्थापित की? और किसने हरिजनों के पक्ष में तथा छुआछूतादि के विरुद्ध और हरिजनों के लिए मन्दिर-प्रवेशाधिकार के लिए इतना घनघोर प्रचार तथा आन्दोलन किया? और किसने हरिजनों के लिए अपनी जान खतरे में डाली? यानी और कौन हरिजनों का पक्ष-समर्थन करने के कारण मूढ़ विश्वासी तथा प्रगति-विरोधी धर्म ध्वजों के बम का असफल लक्ष्य बना? आज हरिजन बोर्ड निरंतर हरिजन सेवा कार्य में लगा हुआ है। आज ब्रिटिश भारत के बड़े-बड़े मन्दिरों में ही नहीं ट्रावनकोर औंधादि कई देशी रियासतों में भी प्राचीन से प्राचीन तथा प्रतिष्ठित से प्रतिष्ठित मन्दिरों तक में हरिजनों का सहर्ष स्वागत होता है महात्मा जी ने स्पष्ट शब्दों में निश्चित रूप से यह घोषणा कर दी है कि अब तक हिन्दू समाज अपने

माथे से अस्पृश्यता के कलंक को नहीं धो बहावेगा तब तक उसका जीवित रहना सन्देहास्पद होगा। वे छुआछूत को हिन्दू धर्म का अभिशाप मानते हैं और प्राणपण से उसे दूर करने का प्रयत्न करते हैं। अपने जीवन में एक भंगी कुमारी को उन्होंने अपनी दत्तक पुत्री बनाया हुआ है और कर्मो में कोई दोष नहीं है यह सिद्ध कर दिखाने के लिए उन्होंने स्वयं पाखानादि साफ करने का भंगी का कार्य किया है तथा समस्त द्विज हिन्दुओं से आश्रम में करवाते हैं। महात्मा जी का मद्य-पान निषेध का आन्दोलन भी हरिजन हितार्थ है क्योंकि धोबी मेहतर आदि अनेक हरिजन समूह शराब के शिकार तरह तरह के कष्ट भोगते हैं इसीलिए शराब खोरी वगैरह के विरुद्ध महात्मा जी की आज्ञा से हजारों उच्चवर्णीय कुल कन्याओं तथा कुलललनाओं ने शराबादि की दुकानों पर पिकेटिंग करके जेल की यन्त्रणायें सहीं और इसीलिए महात्मा जी मद्यपान को घटाने- मिटाने के लिए करोड़ों रुपयों की हानि सहने में तनिक भी नहीं हिचकिचाते। ग़रीबों मजदूरों, और हरिजनों की सेवा तथा हितैषिता का इतना बड़ा और प्रत्यक्ष प्रमाण और कहाँ मिल सकता है।

महात्मा जी का हिन्दू-मुस्लिम एकता सम्बन्धी कार्य-क्रम भारतीय राष्ट्रीयता की आत्म-शुद्धि का कार्य-क्रम है। हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए महात्मा जी ने खिलाफत को अपनाया और अली-बन्धुओं तथा समस्त धर्म-भीरु और स्वाधीनता-प्रिय मुसल्मानों को हिन्दू मुस्लिम एकता के पवित्र रूप में ला बाँधा

हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए उन्होंने इक्कीस दिन का उपवास करके अपने दुर्बल शरीर को झुलसाया तथा अपने प्राणों को खतरे में डाला। इस बात को सभी निष्पक्ष लोग निस्संकोच स्वीकार करते हैं कि हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए जितना प्रयत्न महात्मा गाँधी ने किया उतना देश के हिन्दू-अथवा मुस्लिम दूसरे किसी भी नेता ने नहीं किया। हिन्दुओं की तरफ़ से कोई भी ज्यादती होने पर महात्माजी ने निष्पक्षता तथा निर्भयता-पूर्वक उसको निन्दनीय बताया। अपनी इस निष्पक्षता और स्पष्टोक्ति के कारण ही समस्त आर्य-समाज का कोप महात्मा जी जैसी विश्व-वन्द्य-विभूति पर मँडराया। महात्मा जी के हिन्दू-मुस्लिम-एकता सम्बन्धी प्रयत्नों की सच्चाई का सब से अधिक प्रमाण यह है कि हिन्दू-महासभा उन्हें मुसल्मानों का पक्षपाती तथा हिन्दुओं का विरोधी तक बताने में नहीं हिचकिचाती। श्री जमुनादास मेहता ने तो महात्माजी पर यहाँ तक लाँछन लगा दिया कि उन्हें हिन्दुस्तान पर मुस्लिम-राज क़ायम करनेमें भी कोई ऐतराज़ नहीं है! सन् १९३५ में तत्कालीन राष्ट्र-पति बाबू राजेन्द्रप्रसाद और मि० जिन्ना का समझौता इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि महात्मा गाँधी के नेतृत्व में काँग्रेस भारत की राष्ट्रीयता के सर्वोपरि सिद्धान्त के अनुकूल किसी भी समुचित शर्त पर मुसल्मानों से समझौता करने को तैयार है। इस समझौते की विफलता का एक मात्र कारण मि० जिन्ना की बाद की बढ़ाई हुई यह शर्त्त थी कि काँग्रेस न केवल खुद ही इस समझौते को स्वीकार करे बल्कि महामना मालवीय प्रभृति

हिन्दू नेताओं से भी उस पर दस्तखत करा दे। काँग्रेस के नौ अगस्त सन् १६४२ के ऐतिहासिक प्रस्ताव में भी सङ्घीय-शासन और सङ्घान्तर्गत प्रान्तों के यथा-सम्भव पूर्ण स्वराज्य के सिद्धांत को स्वीकार किया गया है। उसके बाद १६४३ में नजरबन्दी की हालत में भी महात्मा गान्धी ने मि० जिन्ना को समझौते की बातचीत करने के लिये आमन्त्रित किया। भारतीय राजनीति के पिछले पच्चीस बरस का प्रत्येक विद्यार्थी इस बात को भली भाँति जानता है कि हिन्दू-मुस्लिम एकता को महात्मा जी ने अपने जीवन का लक्ष्य बना रखा है और यदि उसमें सफलता नहीं मिली तो इसमें उनके प्रयत्नों तथा उनकी सच्चाई का अणु-मात्र भी दोष नहीं है।

राष्ट्र-भाषा और राष्ट्रीय-शिक्षा के लिए भी जितना प्रयत्न महात्मा गान्धी ने किया उतना किसी ने नहीं किया। राष्ट्र-भाषा की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित करने के लिए उन्होंने न केवल सार्वजनिक सभाओं में ही बल्कि राष्ट्रीय-महासभा और राजे महाराजों के बीच में भी सदैव टूटी-फूटी राष्ट्र-भाषा में अपने विचार प्रकट किये। राष्ट्रीय-महासभा द्वारा राष्ट्र-भाषा निर्माण-कार्य को जितनी अधिक उत्तेजना महात्मा-गान्धी ने दी है उतनी और किसी ने नहीं। मद्रास में हिन्दी प्रचार के लिए महात्मा जी का कार्य अद्वितीय है। मद्रास ही एक ऐसा प्रान्त है जहाँ हिन्दी का सबसे कम प्रचार है, जहाँ की मातृ-भाषाओं का हिन्दी से पारिवारिक सम्बन्ध भी नहीं। ऐसे प्रान्त में हिन्दी प्रचार करके महात्मा जी ने हिन्दी को राष्ट्र-व्यापी-भाषा बनाने

म कोई कसर नहीं छोड़ी महात्मा जी के प्रयत्नों की बदौलत दस-लाख के क़रीब मदरासी हिन्दी सीख चुके हैं। इनमें से कई लाख राष्ट्र-भाषा की परीक्षा में उत्तीर्ण हो चुके हैं। राष्ट्र-भाषा को यह सार्वजनिक शिक्षा दो हज़ार केन्द्रों से दी जा रही है। लगभग आठ सौ शिक्षक इस पुण्यकार्य में लगे हुये हैं। क़रीब दो सौ हाई स्कूलों में हिन्दी पढ़ाई जा रही है। हज़ारों मदरासियों ने राष्ट्र-भाषा में ग्रैजुएट की डिग्री ले ली है। सौ से ऊपर प्रचारक इस काम के लिए नियुक्त हैं और अब तक उनमें दस लाख रुपये खर्च हो चुके हैं। सरकारी स्कूलों, कालिजों, और विश्व-विद्यालयों में दी जाने वाली निरर्थक और हानिकर शिक्षा के दुष्परिणामों से कोई राष्ट्र-भक्त अनभिज्ञ नहीं है। महात्माजी ने तो स्पष्ट शब्दों में इन्हें गुलामखाना क़रार दे दिया है। सन् १६१६-२० में उन्होंने देश वासियों से अपील की कि वे इन स्कूलों तथा कालिजों में पढ़ना छोड़ दें। साथ ही उन्होंने कई जगह राष्ट्रीय-विद्यापीठों की भी स्थापना की। महात्माजी केवल साक्षरता या पुस्तक-पठन-पाठन को ही शिक्षा नहीं मानते। चरित्र और मानवता के विकास को वे शिक्षा का परम उद्देश्य समझते हैं। वे चाहते हैं कि शिक्षा ऐसी हो जो मनुष्य को आत्म संयमी, समाजोपयोगी और स्वावलम्बी बनावे तथा उसके तन, मन और आत्मा तीनों का समुचित विकास करे। सन् १६३७ से वर्धा की क्रान्तिकारी शिक्षा-योजना राष्ट्रीय-शिक्षा की सर्वोत्तम योजना के रूप में देश के सामने है। बड़े २ सरकारी शिक्षा-शास्त्री भी उसकी उपादेयता के सामने सर झुकाने लगे हैं।

उसमें श्रम-द्वारा शिक्षा का वह सिद्धान्त अपने श्रेष्ठ तम रूप में सन्निहित है जिसका प्रतिपादन सुप्रसिद्ध अमेरिकन जान डीवी ने किया था। ग़रीब भारत की परिस्थिति में महात्माजी शिक्षा को स्वावलम्बिनी बनाना चाहते हैं।

न जाने कितने प्रयोगों के बाद महात्माजी ने चरखा, शिक्षादि के अलावा आहार और चिकित्सा सम्बन्धी भी अनेक आविष्कार भारत के दरिद्र-नारायणों के हितार्थ किये हैं। करोड़ों ग़रीबों की चिकित्सा के लिए उन्होंने ऐसे नुसखे तैयार करवाये हैं जिनमे एक आने में एक हफ्ते तक दवा ली जा सकती है। पाश्चात्य सभ्यता की दासता में डूबे हुये 'मूर्ख पण्डित' इन नुसखों को 'गुहा मानव-नारा' कहकर भले ही पुकारें परन्तु पाश्चात्य चिकित्सा-पद्धति के एलियोपेथी की उच्चतम शिक्षा-प्राप्त अधिकारी डाक्टरों ने ही इन नुसखों को जिसमें नवीनतम आयुर्वेदिक तथा एलियोपेथिक औषधियों का अनुभूत सम्मिश्रण है "होम डाक्टर" नामक वृहताकार पुस्तक में लिपिवद्ध किया है और हिन्दुस्तान के करोड़ों किसान इन नुसखों के अभाव में सदियों तक मक्खियों की मौत नहीं मर सकते उस समय तक जब तक इन 'मूर्ख-पण्डितों के सुख-स्वप्न कार्य-रूप में परिणित हों। परित्यक्त वैज्ञानिक सिद्धान्तों की जूँठन के नाम पर अपने को "वैज्ञानिक" कहने वाले ये कल्पना विहारी साम्यवादी अपने फिसड्डी अल्प-ज्ञान में स्वयं तो डूबे हुये हैं ही करोड़ों ग़रीबों को भी अपने ही साथ डुबाना चाहते हैं।

महात्मा जी के प्रयोगों को भारत में चमत्कारिक सफलता

मिली है। सन् १९२० में वे खिलाफ़त पञ्जाब-हत्या काण्ड और स्वराज्य की समस्या-त्रय को लेकर उन्होंने पहिली बार देश के सामने अपना अहिंसात्मक असहयोग और सत्याग्रह का कार्य-क्रम रक्खा। उसी साल राष्ट्रीय महासभा काँग्रेस ने अपने नागपुर में होने वाले वार्षिक अधिवेशन में उसे अपना लिया! देश के बड़े-से-बड़े नेता उसके विरुद्ध थे। लाल-बाल-पाल में से लोकमान्य तिलक का स्वर्ग-वास हो चुका था। लाला लाजपतिराय और बाबू विपिन चन्द्रपाल ने महामना मालवीय आदि के साथ उसका घोर विरोध किया फिर भी महात्मा जी का प्रस्ताव पास हो गया। उसके बाद कुछ ही महीनों में देश भर में एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक गाँधी की आँधी चलने लगी। देश की जाग्रति के जो गीत राष्ट्रीय महासभा में गाये जाते थे वे प्रत्यक्ष सच होगये। करतारने गाँधी के द्वारा भारत को जगा दिया। और वह जगा खोजता हुआ निज-बल, मान, बुद्धि, अधिकार। धनी जगे श्रम-जीवी जागे और जगा कृषक-परिवार! श्रम-जीवियों की जाग्रति की हड़तालों, विशेषकर बङ्गाल और आसाम की हड़तालों के रूप में प्रकट हुई। कृषक-परिवारों की जाग्रति का विस्फोट उस समय चौरी चौरा-हत्याकाण्ड के रूप में और सङ्गठित हो जाने पर बारदोली के सफल सत्याग्रह के रूप में हुआ। धनियों की जाग्रति का रूप संसार ने सन् १९४२ के "भारत-छोड़ो" के नेतृत्व हीन आन्दोलन के समय अहमदाबादादि की मिलों की उन हड़तालों के रूप में देखा जिसे देख कर-ब्रिटिश प्रधान मन्त्री चर्चहिल तक को ब्रिटिश पार्लियामेन्ट में यह शिकायत

करनी पड़ी कि भारतीय मिल-मालिक इस आन्दोलन में रुपया दे रहे हैं! और जिसके जवाब में अखिल-भारतीय-व्यापारी-मण्डल के तत्कालीन सभापति ने निर्भयता के साथ यह कहा कि हमें इस बात पर गर्व है कि स्वदेश की स्वाधीनता के संग्राम में हम अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहे हैं। जन जागृति की दृष्टि से समस्त संसार के इतिहास में इतनी सफलता के उदाहरण विरले ही मिलेंगे। इतने विशाल और बहु संख्यक देश में इतनी जागृति दूसरा कोई भी नेता अरबों रुपये खर्च कर के दशाब्दियों में भी नहीं कर सकता। जितनी महात्माजी ने कुछ महीनों में ही कर दी। हिन्दुस्तान में दूसरा कोई भी कार्य-क्रम बीसियों वर्ष में भी उतना लोक प्रिय और सर्व विदित नहीं हुआ जितना महात्माजी का कार्य-क्रम बीस महीने में ही होगया। यह जन जागृति बिखरी हुई नहीं रही वह हिन्दुस्तान के हर जिले में ही नहीं हर तहसील और मंडलों तक में कांग्रेस कमेटियों के संगठन के रूप में संग्रहीत कर ली गई। इसी अभूतपूर्व संगठन का यह फल है कि कांग्रेस ब्रिटिश साम्राज्य के सर्वोच्च अधिकारियों द्वारा खुल्लमखुल्ला सब से अधिक संगठित तथा प्रभावशाली मानी जाती है गांधीवाद की यह चमत्कारिक सफलता विदेशी-सरकार द्वारा कांग्रेस के प्रतिकूल बनाये हुए चुनाव विधानों में भी उनके राज्य के यहां क़ायम रहते हुए भी चुनावों में कांग्रेस की पूर्ण विजय के रूप में जिन प्रान्तों में मुस्लिम बहुमत है उनमें भी एक मात्र शुद्ध मुस्लिम प्रान्त नौर्थ-वेस्ट फ्रॉंटीयर प्रान्त में भी कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों के रूप में समस्त संसार के सामने आ चुकी है।

गांधीजी ने न केवल जन जागृति और जन संगठन का बहुमूल्य-कार्य विद्युत गति से पूरा किया। बल्कि उन्होंने तपे हुये और शिक्षित पूरा समय देकर काम करने वाले सहस्रों राष्ट्र सेवकों की एक सेना भी तैयार करदी और इनमें से सहस्रों के जीविका के प्रश्न को भी हल कर दिया। उन्होंने देश को आत्म-परिचय कराया आत्म विश्वास और आत्मावलम्बन का मोहन मन्त्र दिया। गांधीजी से पहले जनता और भारतवासी हुक्कामों और अंग्रेजों से डरती थी, गांधीजी की अहिंसा ने निरस्त्र जनता को वह आत्म शक्ति दी कि हुक्काम तथा अंग्रेज हिन्दुस्तानी जनता से डरने लगे। हिन्दी के राष्ट्र-कवि के शब्दों में "टोपधरों को मात किया इन गांधी टोपी वालों ने"। गान्धीजी ने भारत की कोटि-कोटि जनता को अभय पाठ पढ़ाया ऐसा पाठ जिससे भारत का जन-साधारण यह कहने लगा कि, "परवाह अब किसे है इस जेल और दमन की। इक खेल हो गया है फाँसी पै झूल जाना"। महात्मा जी ने देश के सहस्रशः नर-नारियों में स्वदेश-सेवा और स्वदेश की स्वाधीनता के लिए सहर्ष प्राणोत्सर्ग की भव्य-भावना को भर दिया।

इन सब बातों के साथ ही साथ महात्माजी ने स्वदेश वासियों को पाश्चात्य सभ्यता के पापमय प्रभाव से मुक्त करके राष्ट्रीय-संस्कृति को सञ्जीवित किया। उन्होंने भारतीयों के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन के समस्त अङ्गों में नव-जीवन और सुधार की सुधा प्रवाहित की। उन्होंने फैशन, अपव्यय, पश्चिम

की अन्धी नक़ल, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, अनमेल-विवाह, ज़बरदस्ती वैधव्य, परदा, स्त्रियों के प्रति दुर्व्यवहार तथा उनकी अपेक्षादि अनेक जड़ रूढ़ियों तथा कुप्रथाओं पर सफल कुठाराघात किया। उन्होंने स्वदेश की मरती हुई श्रद्धा और सुषुप्त अन्तरात्मा को फिर से जिलाया। उन्होंने भारत रूपी हनुमान को उसके असीम बल का स्मरण कराया। संक्षेप में, महात्माजी ने, हिन्दुस्तान में सफलता पूर्वक आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक चौमुखी क्रान्ति कर दिखाई। पराधीनता के समस्त दूषित–कलुषित तथा पापमय मूल्यों का पुनर्मूल्यांकरण करके नवीन प्रतीकों की स्थापना की। खादी और गांधी टोपी के रूप में राष्ट्र-सेवकों को वह वरदी मिली जो न केवल संसार की अन्य सब वरदियों से निराली ही है बल्कि जो भारत के अहिंसात्मक स्वाधीनता-संग्राम के सर्वथा उपयुक्त है और जिसे भारत का बच्चा-बच्चा जान गया है।

आन्ध्र में किसानों और मज़दूरों की फौरी समस्याओं के हल करने के लिए भी गान्धी-वादी कार्य-क्रम अपनी अमोघता और सर्व श्रेष्ठता के अनेक प्रत्यक्ष प्रमाण दे चुका है। चम्पारन में, खेड़ा में बारदोली में किसानों की समस्याओं को किसने हल किया? गान्धी-वादी कार्य-क्रम के अनुसार हिन्दुस्तान में किसानों को जितना आर्थिक तथा क़ानूनी लाभ पहुँचाया जा चुका है उतना पराधीनता की हालत में किस देश में कहाँ किसने पहुँचाया? हिन्दुस्तान की दूसरी कोई भी पार्टी उसकी बराबरी का दावा तो कर ही नहीं सकती दूसरे 'स्वाधीन' देशों में भी

ऐसे उदाहरण बहुत कम मिलेंगे कि इतनी कम कोशिश से, इतनी कम हानि और कुर्बानी प्रतिदान से इतना अधिक लाभ किसानों को पहुँच गया हो ? मजदूरों के सङ्गठन का भी जो सुन्दर उदाहरण महात्मा जी ने अहमदाबाद के मजदूरों के संगठन के द्वारा पदार्थ पाठ के बतौर देश के सामने रखा है उसका मुक़ाबिला कौन कर सकता है ? सब लोग इस बात को जानते हैं कि अहमदाबाद के मजदूरों को अपनी मजदूरी बढ़ाने में जितनी सफलता मिली है उतनी-हिन्दुस्तान भर में और कहीं के मजदूरों को नहीं मिली। अहमदाबाद में मजदूरों की भलाई के जितने अधिक सङ्गठित तथा सुव्यवस्थित कार्य होते हैं उतने और कहीं होते हैं ? अहमदाबाद के मजदूर जितने अधिक सङ्गठित हैं उतने और कहाँ के सङ्गठित हैं ?

जन-जाग्रति की यह जान्हवी नारी-जाग्रति की धारा में भी प्रवाहित हुई है ! असूर्यम्पश्या कुलाङ्गनाओं से सहस्रशः की तादाद में परदा छुड़ाकर उन्हें सती सावित्री की भाँति अभय बनाने का श्रेय महात्मा गान्धी के सिवा और किसको है ? १६३० के सत्याग्रह आन्दोलन में देश-भर में सहस्रशः स्त्रियों ने जिस साहस और वीरता का परिचय दिया उसे कौन भूल सकता है। नागपुर में झण्डा सत्याग्रह के समय जिस समय राष्ट्र-माता कस्तूरबा गान्धी के नेतृत्व में सहस्रशः स्त्रियाँ "नहीं झुकेगी, नहीं झुकेगी, नहीं झुकेगी, कभी कहीं। भारत भू की राष्ट्र-पता [illegible] झुक सकती है कभी कहीं ?" गाती हुई निकलीं थीं उस दिव्य [illegible] को कभी भुलाया जा सकता है ? सदैव

परदे में रहने वाली कुल-वधुओं और कुल कन्यकाओं का विलायती कपड़ों की ही नहीं शराब तक की दूकानों पर पिकेटिंग करना, पुलिस की लाठियाँ और गोलियां तक खाना, तथा हँसते-हँसते जेल जाना चमत्कार नहीं तो और क्या है? और नारियों की यह जागृति उनकी सन्तानों बालक-बालिकाओं, वानर सेनाओं तथा बिल्ली सेनाओं के रूप में प्रस्फुटित हुई। इन बच्चों तथा बच्चियों ने भी अनेक स्थलों पर मोटर लौरियों और सशस्त्र पुलिस के घोड़ों के सामने अभिमन्यु की सी वीरता दिखाई। उनके गानों और नारों की याद आज भी शरीर में बिजली-सी दौड़ा देती है।

गान्धीजी के किस २ प्रयोग की सफलता का वर्णन किया जाय? भारतीय राष्ट्र-जीवन का ऐसा कौन सा अङ्ग है जिसको उन्होंने अनुप्राणित न किया हो? भारत के लिए महात्माजी वे पारस सिद्ध हुए हैं कि जो कोई भी भारतीय लोहा उनसे छू भर गया वही सोना हो गया? आज भारत में जिन ऊँचे से ऊंचे पदों पर आरूढ़ जिन हिन्दुस्तानियों की, सरों की, एक्जीक्यूटिव कौंसिल के मेम्बरों की जो भर-मार है तथा अम्बेडकरों की जो कुछ और जितनी भी पूँछ है वह सब महात्मा गांधी की बदौलत है। आज भारत में, सीमेन्ट, शक्कर, कपड़ा, स्टील आदि के जिन उद्योग-धन्धों की कल्पनातीत उन्नति हुई है वह महात्माजी के नेतृत्व में प्रादुर्भूत स्वदेशी की भावना का ही फल है। अनेक विशेषज्ञ भारतीय अर्थ-शास्त्राचार्यों ने भिन्न-भिन्न समयों पर भिन्न-भिन्न बातों का हिसाब लगा कर यह बताया है कि स्वदेशी

आन्दोलन की बदौलत भारत को अरबों का लाभ हुआ है। महात्मा गांधी के रूप में भारत को जैसा अद्वितीय नेता मिला है वैसा संसार के इतिहास में आज तक किसी देश को नहीं मिला। उनमें मात्सिनी और गैरीबाल्डी, मार्क्स और लैनिन, दोनों के गुण अपने उच्चतम और शुद्धतम रूप में एक ही जगह विद्यमान हैं। जन-नेतृत्व के गुणों में उन्होंने मानव-कल्पना को भी पीछे छोड़ दिया है। किसी पाश्चात्य विद्वान् लेखक ने यह ठीक ही लिखा है कि उनके कान ऐन मौके पर भारत-भूमि की भाषा को सुन कर ऐसा कार्यक्रम बनाते हैं जो सब के सन्देहों को असत्य सिद्ध करके चमत्कारिक सफलता कर दिखाते हैं।

तुलना और उपसंहार

हम यह देख चुके कि लोक-तन्त्रवाद का न तो कोई शास्त्र है न विज्ञान। उसकी जो मौलिक स्वयं-सिद्धियाँ हैं वे अव्याव-हारिक आदर्श-मात्र हैं। दो-एक छोटे से देशों को छोड़कर कहीं भी वे शासन की नीति अथवा उसके स्वरूप का आधार नहीं हैं इन दो-एक छोटे देशों के अलावा ब्रिटेन और अमेरि-कादि बड़े बड़े देशों में उसका जो रूप प्रचलित है वह मायावी है अर्थात् कहने को लोकतन्त्र है लेकिन है वास्तव में पूंजीवाद और साम्राज्य-वाद। इसके अतिरिक्त लोकतन्त्र की प्रेरक शक्ति, क्रान्तिकारी और प्रगतिशील शक्ति पिछली कई शताब्दियों से अस्तित्व हीन हो चुकी है।

नात्सीवाद अथवा फासिस्तवाद कर्म वीरता का कार्य-क्रम अवश्य है परन्तु उसके नग्न साम्राज्यवाद और युद्ध के लिये युद्ध के आसुरी स्वरूप को मानवीय आत्मा कभी स्वीकार नहीं

कर सकती। वह जातीय, राष्ट्रीय, तथा सांस्कृतिक भेदों को, द्वैतों को, द्वन्द्वों को सनातन, अनादि-अनंत मानता है और अद्वैत तथा सर्वात्मैक्य के सिद्धान्त से सदा के लिये इनकार करता है। ऐसा भ्रमात्मक तथा लोक-क्षय-कारक उग्रकर्मीवाद, कभी सर्व मान्य तथा सर्व ग्राह्य नहीं हो सकता। समय विशेष, देश विशेष तथा परिस्थिति विशेष के लिए उसका कुछ भी मूल्य क्यों न हो कुछ समय के लिए वह कितना ही कारगर क्यों न हो परन्तु विश्व और मनुष्य शक्ति भी सदा और सर्वत्र के लिए शिव को छोड़कर रुद्र की उपासना नहीं कर सकते।

अतः शोसित और शासित, पीड़ित और पददलित पराधीन जनगणों तथा सर्व साधारण के लिए साम्यवाद और गान्धीवाद दो ही मार्ग रह जाते हैं। हमें इन दोनों की तुलना करके यह देखना है कि विश्व और मानव का कल्याण साम्यवाद से सिद्ध होगा या गान्धीवाद से।

गान्धीवाद तथा मार्क्स-वाद दोनों ही शोषण, पूँजीवाद तथा आर्थिक और राजनैतिक पराधीनता के विरोधी हैं। दोनों ही क्रान्ति कारी और प्रगतिशील हैं। दोनों ही समाज के प्रचलित मूल्यों का पुनर्मूल्यी करण चाहते हैं। दोनों ही आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक चारों प्रकार की चौमुखी क्रान्ति के समर्थक दोनों ही समाज की वर्त्तमान विषमताओं और उसकी न्याय-विरुद्ध व्यवस्थाओं में आमूल परिवर्त्तन चाहते हैं। दोनों का यह उद्देश्य है कि समाज में न कोई भूखा रहे न कोई नंगा। न कोई बे घर-बार रहे, न कोई बे रोजगार। दोनों

ही यह चाहते हैं कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्रारम्भिक आवश्यकताओं को पूरा करने तथा अपनी शक्तियों का पूर्ण विकास का समुचित अवसर मिले। दोनों का अन्तिम लक्ष्य अहिंसात्मक तथा सब प्रकार के राज से मुक्त समाज है। दोनों अधिकार प्राप्ति के लिए सीधी मार के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं।

परन्तु लक्ष्य और साध्य की, आदर्शों की इतनी समानता होते हुए भी दोनों के साधनों में जमीन आसमान का फ़र्क है। इसके अतिरिक्त दोनों के साध्य-सम्बन्धी मूल्यों में भी अनेक आधार भूत विरोध हैं।

दोनों के विशेषतः साधन सम्बन्धी और कुछ हद तक परन्तु उतनी ही महत्व पूर्ण साध्य-सम्बन्धी इस विरोध का आधार भूत कारण यह है कि मार्क्सवाद भौतिकवादी है और गाँधी-वाद अध्यात्मवादी। गीता के सोलहवें अध्याय में दैवासुर सम्पत्ति का जो विभाग किया गया है, वह गाँधीवाद पर अक्ष-रशः लागू होता है। सातवें-आठवें श्लोक के अनुसार मार्क्स-वादियों में शौच, आचार, सत्य कहाँ है ? वे संसार को ईश्वर-हीन अपरस्पर संभूत तथा कामहेतुक मानते ही हैं और स्तालिन का अभूतपूर्व दमन "क्षमाय जगते दुहिताः" उग्र कार्यों का ऐसा प्रमाण है जिससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। चौथे श्लोक का दम्भ, दर्प, क्रोध, पारुष्य और विज्ञान के नाम पर अज्ञान भी उनके विशेष लक्षण हैं। उनके पन्द्रहवें श्लोक का "कोऽन्योऽस्मि सदृशोमया" भाव भी सर्व विदित है। इसके विपरीत पहले,

दूसरे, तीसरे श्लोकों के अहिंसा, सत्य, त्याग, शान्ति, अभय, तप, दया, क्षमा, अद्रोह, नातियानितादि गुण गांधीवाद में ज्यों के त्यों मिलते हैं। मार्क्सवाद भेद-प्रधान और संहार-प्रधान है। जब तक प्रोलीतेरियत डिक्टेटरशिप मुरझाकर श्रेणी-हीन समाज न स्थापित हो तब तक मार्क्सवाद अधिकाँश लोगों के अधिक सुख अथवा हित के सिद्धान्त की आड़ लेता है और क्रूर से क्रूर दमन तथा हिंसा द्वारा अपने उद्देशों की पूर्ति करने की खुली घोषणा करता है लेकिन गांधीवाद का सिद्धान्त सदैव-सर्वत्र सर्वोदय का सिद्धान्त है और वह सत्य प्रचार तथा प्रेम द्वारा सेवा और आत्मबल द्वारा अपने उद्देशों की पूर्ति करने में विश्वास रखता है। मार्क्सवाद में जब तक श्रेणीहीन समाज स्थापित होने का कल्पना विहारी आदर्श न पूरा हो जाय तब तक वैय-क्तिक और नागरिक स्वाधीनता के लिए कोई स्थान नहीं है, लेकिन गांधीवाद में व्यक्ति की और नागरिकों की स्वाधीनता सदैव सुरक्षित रहती है मार्क्सवाद पूंजीवाद का विरोधी होते हुए भी पूँजी पूजक है, वह केवल यह चाहता है कि जो पूँजी पूँजीपतियों के हाथ में है वह कहने को प्रोलीतेरियत डिक्टेटर-शिप के परन्तु वास्तव में जो मार्क्सवादी कम्यूनिस्ट पार्टी शासन शक्ति को अपने करतल गत करले उसके हाथ में आ जाय। गांधीवाद पूँजी पूजा का, धन को सब से अधिक महत्व देने का, मार्क्सवाद के आर्थिक-नियतिवाद के सिद्धान्त का इस सिद्धान्त का घोर विरोधी है कि धर्म, कर्म, आचार, विचार, सभ्यता-संस्कृति सब की सृष्टि धन पैदा करने वाली क्रियाओं

से समाज के उत्पादन के साधनों की अवस्था से होती है। मार्क्सवाद पश्चिम के भौतिकवादी शहरी और उद्योगी-जन-प्रगति के इतिहास को समस्त संसार पर लागू करके कहता है कि पूंजीवाद का, और पूँजीवाद का ही क्यों फासिस्टवाद का विकास भी साम्यवाद की स्थापना और उसकी विजय के लिए आवश्यक है। इस उद्देश की पूर्ति के लिए भारत जैसे देशों में जहाँ पूँजीवाद अभी पूरी तरह विकसित नहीं हुआ वहाँ पूँजीवाद के विकास का, ब्रिटिश साम्राज्यशाही में भी बड़े-बड़े कारखानों का, बड़े पैमाने पर उद्योग धन्धों का समर्थन करते हैं। अर्थात् मार्क्सवाद के अनुसार उनके काल्पनिक साम्यवादी स्वर्ग में पहुँचने के लिए यह आवश्यक है कि पहले पूंजीवाद के रौरव नरक और फासिस्तवाद के कुम्भीपाक में सदियों तक सड़ा जाय। इसके विपरीत गांधीवाद का कहना है कि पूंजीवाद को जन्मने ही न दिया जाय। जहाँ मार्क्सवाद पूँजीवाद का विरोधी होते हुए भी पूंजीवादी उत्पादन पद्धति का समर्थन करता है वहाँ गांधीवाद, पूंजीवाद के मूल पर ही कुठाराघात करता है। गाँधीवाद का कहना है कि भारत जैसे देश में जहाँ की भूमि उर्वरा और रत्न-प्रसविनी है तथा जहाँ जन-संख्या इतनी अधिक तथा ग्राम-वासिनी है वहाँ पाश्चात्य शहरी उद्योगवाद की बड़ी-बड़ी मशीनों की, बड़ी-बड़ी मिलों की, गावों की और गावों की सभ्यता को नष्ट करने की क़तई कोई आवश्यकता नहीं है। यहाँ जीवन की सभी मुख्य आवश्यकताओं की पूर्त्ति घरेलू उद्योग-धन्धों की उस पद्धति से हो सकती है जिसमें न तो

शोषण का भय है तथा न जिस से गाँवों और किसानों का अहित ही होता है। अनिवार्यतः आवश्यक जिन चीज़ों के लिए बड़ी मशीनों तथा मिलों की जरूरत हो वे शुरु से ही राष्ट्र की तरफ़ से चलाई जानी चाहिए। उन पर शुरू से ही राष्ट्र का नियन्त्रण होना चाहिए।

जब तक प्रोलीतेरिएत डिक्टेटरशिप न स्थापित हो तब तक, यानी ईश्वर जाने कब तक, समाज-वादियों और साम्यवादियों के पास लोक-सेवा का कोई रचनात्मक कार्य-क्रम, लोगों की ग़रीबी दूर करने, उन्हें स्वस्थ, स्वच्छ और स्वावलम्बी बनाने आदि का कोई कार्य-क्रम नहीं है जब कि गान्धी-वाद रचनात्मक कार्य-क्रम में उनका सर्व-साधारण की फौरी माँगों और जरूरतों की बुनियाद पर उन्हें जाग्रत, सङ्गठित तथा शिक्षित-दीक्षित करने का कार्य-क्रम सम्मिलत है, खेड़ा चम्पारन, बारदोली के किसान तथा अहमदाबाद के मजदूर इस बात के कुछ प्रमाण हैं।

स्पेंगलर ओसवाल्ड के कथनानुसार मार्क्सवाद उन लोगों का धर्म है। जो जिस भूमि में पैदा हुए और पले उससे उन्मूलित हो चुके हैं, जो अपने ही देश के लिए परदेशी हैं; जो शहरी और समाज के तलछट; मातृ-भूमि के कपूत हैं। वह कभी भी गावों का तथा किसानों का धर्म नहीं हो सकता। रूस का पच्चीस वर्ष का कम्यूनिस्ट शासन इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है। इसके विपरीत गान्धीवाद की जड़ें मातृ-भूमि में गहरी घुसी हुई हैं। वह भारतीय सभ्यता और भारतीय संस्कृति, से ही जन्मा है और उसी में फल फूल रहा है। वह भारतीय संस्कृति,

भारतीय प्रतिभा, भारतीय परम्परा, भारतीय इतिहास और भारतीय जल-वायु के सर्वथा अनुकूल है जब कि मार्क्स-वाद इन सबके प्रतिकूल है। स्पेंगलर ओसवाल्ड के ही कथनानुसार मार्क्स-वाद पूँजीवाद के हाथ की कठपुतली बना हुआ है। उदाहरण, ब्रिटेन और अमेरिका के मजदूरों ने अपने को वहाँ के पूँजीवाद और साम्राज्य-वाद के हाथों इस हद तक बेच दिया है कि वे मज़दूर और साम्यवादी तथा समाजवादी अनुदार-दल के उम्मेदवारों को वोट देते हैं। कम्यूनिस्टों के प्रभाव में आकर कुछ भारतीय मज़दूर भी अपनी मज़दूरी और काम के घन्टों आदि की समस्याओं को देश की स्वाधीनता की समस्या से अधिक महत्व-पूर्ण समझते तथा राष्ट्रीय सङ्गठनों से अलग होकर अपने ही क्षुद्र-स्वार्थों में रत रहते हैं। यह निर्विवाद है कि मार्क्स-वाद मातृ-भूमि से उन्मूलित शहरियों-मज़दूरों का मज़हब है। वह गावों तथा किसानों का विरोधी है वह गाँवों को नष्ट करके शहरों को बसाना प्रगतिशील समझता है। किसानों को कुली, मज़दूर बना देना उनकी क्रान्ति का मुख्य और अन्तिम उद्देश है अपने इस उद्देश की पूर्ति के लिए वह लाखों किसानों को मौत के घाट उतार देने तथा लाखों का नाज छीनकर उन्हें भूखों मार देने से तनिक भी नहीं हिचकिचाता। इसके विपरीत गान्धी-वाद गाँवों का, किसानों का वाद है। वह गाँवों की उन्नति तथा किसानों की सभ्यता और संस्कृति की वृद्धि चाहता है। स्पेंगलर ओसवाल्ड के कथनानुसार पश्चिम का साम्य-वाद, समाज-वाद और मार्क्सवाद भी अन्ततोगत्वा साम्राज्य-वाद ही है वह भी हिंसा-

दमन और पशु-बल से अपने मत का प्रचार, अपने उद्देश की पूर्ति करने का पक्षपाती है। वर्त्तमान महायुद्ध से सोवियत रूस का साम्राज्य-वादी रूप समस्त, संसार के सामने आ चुका है। भारत के प्रति ब्रिटिश मजदूर दल के ऐटली जैसे मेम्बरों की साम्राज्य वादिनी मनोवृति थी सब लोगों पर प्रकट हो चुकी है। इसके प्रतिकूल महात्मा गान्धी और राष्ट्रीय महा सभा काङ्ग्रेस की राष्ट्रीयता भी संसार-सङ्घ का सर्वोत्तम साधन है।

गान्धी-वाद श्रम को मार्क्स वाद से कम महत्व नहीं देता। अर्थ को सर्वोपरि अथवा अत्यधिक महत्व देने के विषय में गांधी-वाद मार्क्स-वाद का विरोधी है, परन्तु श्रम का तो गान्धी वाद में इतना महत्व है कि वही समस्त शिक्षा का मुख्य साधन माना जाता है तथा श्रम किए विना खाना चोरी और (पाप माना जाता है) परन्तु श्रम की महिमा प्रतिपादित करते हुये भी गान्धी-वाद श्रम-विभाग के महत्व की उपेक्षा करके अपने को मार्क्स-वाद की तरह आलोच्य और हास्यास्पद तथा अव्यावहारिक नहीं बनाता। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी समस्त शक्तियों को पूर्ण विकास की सब प्रकार की सुविधा और स्वतन्त्रता का समर्थक होते हुए भी गान्धी-वाद गुण-कर्म—स्वभाव जन्य, जन्म जात प्राकृतिक शक्ति, सामर्थ्य, योग्यता तथा अभिरुचि भेद को भुला कर 'अन्धेर नगरी अनबूझ राजा' की उस कहावत को चरितार्थ करने के कारण मार्क्स-वादियों को सोवियत रूस में अपनी कहनी के ठीक विपरीत करना पड़ रहा है।

गान्धी-वाद अपने सिद्धान्तानुसार आचरण के लिए यह

शर्त्त नहीं लगाता कि उन सिद्धान्तों के अनुसार आचरण तभी हो सकेगा जब भारत पूर्णतया स्वतन्त्र भारत के शासन की बाग-डोर गान्धी-वादियों के हाथ में हो। जब कभी हम मार्क्स-वादियों में जमींदार-वर्ग, बीमा-कम्पनी आदि के मेनेजिंग ऐजेन्टादि पूँजी पति-वर्ग, वकील-डाक्टरादि गरीबों का सीधा शोषण करने वालों को देखते हैं और उनसे पूछते हैं कि एक ओर शोषण-विरोधी क्रान्ति के नारे लगाना और दूसरी ओर खुद शोषण करना कहाँ तक ठीक है तो वे यही उत्तर हमारे सर पर दे मारते हैं, कि जब तक समस्त संसार में न सही तो कम से कम देश भर में समाज वादी या साम्य वादी शासन-व्यवस्था न स्थापित हो जाय तब तक उसके सिद्धान्तानुसार जीवन नहीं बिताया जा सकता! परन्तु गान्धी-वाद में यह दोष नहीं है। उसमें ऊँचे से ऊँचे आदर्शानुसार जीवन-नयन करने का प्रयत्न प्रत्येक व्यक्ति जीवन के प्रत्येक पक्ष में करता है। आर्थिक विषमता का विरोधी होने के कारण साम्य-वाद और समाज-वाद तो दूर राजनैतिक स्वाधीनता न होने पर भी गान्धी-वाद में काँग्रेस के ऊँचे से ऊँचे पदाधिकारी मन्त्रि-मण्डल के सदस्यादि भी पाँच सौ से अधिक माहवारी वेतन नहीं ले सकते! गान्धी-आश्रमों, चरखा सङ्घ, गाँधी-सङ्घादि में तो यह वेतन–भेद इतना कम है कि जितना कम करने की आशा सोवियत रूस अभी सदियों तक नहीं तो कई दशाब्दियों तक तो कदापि नहीं कर सकता। साम्य-वाद, समाज-वाद और स्वाधीनता के अभाव में भी महात्मा गाँधी चरखा-सङ्घ में कतकरों के लिए कम से कम मज़दूरी आठ घंटे की मेहनत पर

आठ आने रोज की मजदूरी, जो भारत के किसानों और मजदूरों की दैनिक औसत आमदनी से कई गुनी अधिक है, अनिवार्य कर देते हैं। सेगाँव के आश्रम में लेखक को स्वयं महात्मा जी के समीप बैठ कर सब के साथ एक पंक्ति में भोजन करने का सौभाग्य प्राप्त हो चुका है। वहाँ उसने महात्माजी की प्यारी चटनी, नीम की पिसी हुई पत्तियों की ताजी, हरी, विशुद्ध नमक तक की मिलावट के बिना रूप से मोहक चटनी का प्रसाद भी ग्रहण किया था और महात्मा जी की इस शिकायत को भी सुना था कि आश्रम में इतना महँगा भोजन देकर अपव्यय—अधिक व्यय किया जा रहा है। वहाँ भोजन के सम्बन्ध में स्वयं महात्मा गान्धी और आश्रम के प्रत्येक सदस्य के भोजन में जो समानता है उस से आगे कल्पना की भी गति नहीं है। यही बात श्रम और कार्य-सम्बन्धी समानता की है। दूषित प्रचलित सामाजिक माप-दण्डों द्वारा सब से हेय ठहराया जाने वाला पाखाना साफ करने का काम जब महात्मा गान्धी स्वयं कर चुके हैं तब आश्रम के ऊँचे से ऊँचे ब्राह्मण सदस्य भी उससे मुक्त कैसे रह सकते हैं? करोड़ों ग़रीब किसानों की भलाई के लिए नई नई खोजें करने के उद्देश से महात्मा जी भोजन सम्बन्धी ही नहीं दूसरे प्रयोग भी स्वयं अपने शरीर पर करते हैं। पाश्चात्य डाक्टरों और वैज्ञानिकों की तरह दूसरों की देहों या लाशों पर नहीं। मच्छरों से बचने के लिए मिट्टी का तेल शरीर में पोत कर सोने का प्रयोग तक ने। गाँव के सन्त ने अपने शरीर पर किया है। ऐसे शुद्ध सत्य-शोधी वैज्ञानिक के प्रयोगों को, "गुहा-मानव का नारा" कहने वाले

अपने मस्तिष्क की किसी मस्तिष्क—रोगों के विशेषज्ञ डाक्टर से परीक्षा करालें तो उनके और समाज के लिए अच्छा होगा। जिस महापुरुष ने दरिद्र नारायण के सामीप्य के लिये दरिद्र भारतीय किसान का अर्द्ध-नग्न वेष धारण कर लिया हो और जो भारत की चालीस कोटि जनता के प्रतिनिधि की हैसियत से अंग्रेज सम्राट् के महल में भी इसी नग्न वेष में गया हो उससे बढ़कर जन-गण-अधिनायक और कौन हो सकता है ?

मशीनों को देवी, और विज्ञानों को वेद मानने वाली जो भौतिक वादी पाश्चात्य सभ्यता एडवर्ड कारपैन्टर, स्पैंगलर ओसवाल्ड, एच० जी० वैल्स आदि अनेक प्रकाँड पाश्चात्य पण्डितों के मतानुसार भी सर्वनाश की सड़क पर सरपट दौड़ी जा रही है वही मार्क्सवाद का आधार है परन्तु गांधीवाद इस सभ्यता का विरोधी है महात्मा जी का 'हिन्द स्वराज' संसार के साहित्य में इस सभ्यता की सब से अधिक आमूल आलोचना और उसके प्रति सब से प्रचण्डतम प्रतिक्रिया है। यन्त्रों विज्ञानों, आधुनिक सभ्यता के सुफलों उसकी अच्छी बातों के प्रति भी 'हिन्द स्वराज' में जो अति विरोध दिखाई देता है। वह इसी प्रचण्ड प्रतिक्रिया से उत्पन्न हुआ भ्रम-मात्र है जो पाश्चात्य सभ्यता सारे संसार के साथ-साथ भारत को भी अपना विषैला पय-पान करा रही थी, जिसके चुंगल में फंसकर स्वयं भारतीय वेदों को गड़रियों के गीतमात्र और कृष्ण को काल्पनिक लंपट ग्वाला मात्र कहने लगे थे तथा हिन्दुस्तानियों को अपने मां-बापों और पूर्वजों को (नेटिव) तथा श्री मद्भग-

वद्गीता और रामायण तक को प्रतिक्रियावादी मूढ़ विश्वासी अथवा उससे भी वदतर धूर्त धनिक-वर्ग का धर्म जालमात्र कहने लगे तथा इसके वशीभूत होकर वे अंग्रेजों की वेष-भूषा, उनकी भाषा तथा उनके लहजे तक को, उनके रहन-सहन को, अपने लड़कों के पैदा होते ही साहब और लड़कियों को पैदा होते ही मेम बनाने की अंग्रेजों के हँसने तक की अन्धी नकल करने लगे थे और जिसके विषमय प्रभाव के कारण आज भी हम पाश्चात्य भौतिक वाद पाश्चात्य राजनीति और पाश्चात्य मार्क्सवाद को समाज को समुन्नति का सर्वोत्तम साधन समझते तथा प्रचारित करते हैं उस बुड्ढी और मरणशील बांझ वेश्या के सर्वभक्षी इरादों से भारत की सती, सृजनकारी और संस्कृति को बचाने के लिए 'हिन्द स्वराज्य' में किया गया समस्त विरोध मौलिक आने अनिवार्यतः आवश्यक है। अपने इसी मनोबल से महात्मा जी ने आज अंग्रेजी पूंजीवादी थम्स और रूसी मार्क्सवादी वोल्डगा की गति को रोक कर गाँधीवादी गंगा को प्रवाहित किया है। परन्तु गाँधीजी ने बार-बार यह स्पष्ट कर दिया है कि मानव हित के नियन्त्रण में वे यन्त्रों और विज्ञानों के, पूँजी तक के सदुपयोग के विरोधी नहीं वे केवल इन सब की दासता के इनको मनुष्य से भी ऊपर समझने के, इनकी पूजा के, इनके प्रभुत्व के, इनके अनियन्त्रितत्व के विरोधी हैं।

सभ्यता के सम्बन्ध में 'हिन्द स्वराज्य' में महात्माजी ने जो विचार प्रकट किए हैं, उनका कुछ रसास्वादन कीजिए। उन्होंने कहा है, 'मेरा विश्वास है कि भारत के प्राचीन आर्यों ने जिस

सभ्यता का निर्माण किया है वह इस दुनयांमें बिल्कुल लासानी है। रोम मिट गया। ग्रीस की भी वही हालत हुई। ईजिप्त पुरातत्व शास्त्र का विषय हो चुका है। परन्तु हिन्दुस्तान का अन्तः स्वरूप अभी किसी कदर ज्यों का त्यों बना हुआ है। चतुर्मुखी कान्ति का यह अवतार अपनी संस्कृति तथा सभ्यता की सुन्दर देनों का स्वागत करता हुआ उन्हें न बदलने की घोषणा करते हुए ओज और तेज के साथ कहता है "यह अपरिवर्तन हमारा जातीय गुण है, दोष नहीं। जिन बातों को अनुभव के आधार पर हमने स्वीकार कर लिया है, उनका परित्याग हम नहीं कर सकते। कई लोग हमें कई तरह की सलाह देवे हैं परन्तु हम अपने स्वरूप और सभ्यता पर आरूढ़ हैं। यही हमारी विशेषता है और इसी के कारण हमारा भविष्य उज्ज्वल भी है।' उनके शब्दों में 'सभ्यता उस शक्ति का नाम है जो हमें कर्त्तव्य शील बनाती है और कर्त्तव्य का मार्ग भी दिखाती है। सदाचार का ही दूसरा नाम सभ्यता है। यदि सभ्यता की यह परिभाषा सही है तो मैं कह सकता हूँ कि हिन्दुस्तान को किसी दूसरी जाति से कुछ भी सीखना नहीं है। हमारे पूर्वजों ने इन्द्रिय-संयम को ही सभ्यता का सारांश समझ कर स्वीकार किया है। इसी कारण हमने अपनी पुरानी बातें अभी तक कायम रखी हैं। वही छोटी-सी पुरानी झोंपड़ी—वही पुराने हल और वही हमारी देशी शिक्षा हमारे काम की चीजें हैं और उन्हें हमने अपने बीच बहुत कुछ सुरक्षित रखा है। हमारी सभ्यता की प्रतिस्पर्धा के लिए स्थान नहीं, हमारी संस्कृति सहयोग-मूलक है।

क्या हमारे पूर्वज यन्त्रों (मशीनों) का निर्माण नहीं कर सकते थे ? ज़रूर कर सकते थे लेकिन उन्होंने दूरदर्शिता पूर्वक यही निश्चय किया कि अपनी जरूरत के सभी काम में हाथ-पैर से करने चाहिए। उन्होंने यह भी समझ लिया था कि बड़े-बड़े नगरों की रचना लोगों के लिए लाभदायक सिद्ध न होगी ! ऐसे स्थानों में चोर, जुआरी, बदमाश और वारांगनायें ही अपनी माया और प्रलोभन का विस्तार करेंगी और गरीब आदमी पैसे वालों के द्वारा लुट जावेंगे ! इसी लिए उन्होंने छोटे-छोटे गाँव बसाये। वे समझते थे कि मनुष्यों की नैतिकता राजाओं की शक्ति से बढ़कर होती है। इसी कारण उन्होंने ऋषियों को राजाओं से अधिक मान दिया। जिस जाति की ऐसी सभ्य व्यवस्था है वह दूसरों को बहुत कुछ सिखा सकती है। हमारे देश में अदालतें वैद्य और न्यायशास्त्री भी थे लेकिन सब मर्यादा के भीतर काम किया करते थे। उनका जीवन कृषि-प्रधान था। सच्चे स्वराज का उपयोग वे लोग ही किया करते थे। अतएव मेरी निश्चित धारणा है कि जो लोग पाश्चात्य सभ्यता का बीजारोपण हिन्दुस्तान में करना चाहते हैं वे देश के जानी-दुश्मन और पातकी हैं। मैं मानता हूं कि हमारे बीच में कई प्रकार की सामाजिक तथा धार्मिक बुराइयां घुस पड़ी हैं। हमारी सभ्यता से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। उनको छिन्न-मूल करना हमारा कर्त्तव्य रहा है, भविष्य में भी रहेगा। देश की नई जाग्रति का उपयोग हमें इन बुराइयों के मूलोत्पाटन में करना चाहिए। भारत की प्राचीन सभ्यता मनुष्य की नैतिक

योग्यता बढ़ाने वाली है। वर्त्तमान की पाश्चात्य सभ्यता दुराचार का प्रचार करती है। पहली दैवी सम्पत्ति है, दूसरी आसुरी पहली परमात्म-निष्ठ है, दूसरी बिल्कुल नास्तिक। ऐसा समझ कर प्रत्येक भारतवासी को अपनी सभ्यता से वैसा ही प्यार करना चाहिए जैसा कि एक बच्चा अपनी माता से प्यार करता है।"

इन विचारों से यह भली भाँति स्पष्ट है कि महात्मा जी भारतीयता के पूर्ण अवतार हैं। उनका अन्तः स्वरूप ही नहीं, उनकी वेश-भूषा, उनका रहन-सहन तथा उनके आचार-विचार सभी सर्वथा भारतीय हैं। पाश्चात्य सभ्यता की वेगवती गति को प्रचण्ड धक्का देकर उन्होंने बहुत कुछ रोक दिया है। महात्मा जी के इसी रूप के कारण पाश्चात्य सभ्यता की अन्धी नकल करने वाला शिक्षित-वर्ग गान्धीवाद से ठीक उसी प्रकार दूर भागता है जैसे सूर्य के प्रकाश से उलूक। इन में से बहुत से घोर राज-भक्त, सर गिरजा-शंकर बाजपेइयों और मुदालियरों के रूप में अथवा सरकारी नौकरों के रूप में गान्धी-वाद का विरोध करते है और अधिकांश प्रोफेसरों, वकीलों आदि के रूप में उससे उदासीन आलोचक के रूप में रहते हैं और कुछ इन दोनों रूपों की हेयता को अनुभव करके साम्यवादी अथवा समाजवादी आकर्षक चोला पहनकर गान्धी-वाद का विरोध और पश्चिम का अन्धानुसरण करते हैं।

अन्तिम लक्ष्य और तत्कालिक कार्य-क्रम दोनों की दृष्टि से गांधी जी की आर्थिक योजना, गरीबी, परावलम्बन तथा शोषण

का मूलोच्छेदन करने वाली साम्यवादी योजना है। हमारी औद्योगिक और व्यावहारिक पराधीनता चरम सीमा पर पहुँची हुई है यदि हमारे यहाँ किसी कारण-वश विदेशी चीज़ों का आना बन्द हो जाय तो हमारे घरों में रात को अँधेरा रहे और हमारे लिये शीतादि से रक्षा करने की तो बात ही अलग है अपनी लज्जा तक ढकना असम्भव हो जाय। सुई जैसी छोटी चीज़ तथा अपनी सौभाग्यवतियों के सौभाग्य-सिन्दूर तक के लिए, हम दूसरों के मुहताज हैं। पूँजीपतियों, पूँजीवादी-पद्धति और ब्रिटिश-साम्राज्य की कृपा-कोर से स्वतन्त्र साम्य-वादियों और समाज वादियों के पास ऐसा कोई कार्य-क्रम नहीं है जो हमारे परावलम्बन को दूर कर सके। महात्माजी के पास वह अमोघ कार्य-क्रम है जो हमें वस्त्रों के सम्बन्ध में पूर्ण स्वावलम्बी बना सकता है तथा ग्रामीण उद्योग-धन्धों और घरेलू उद्योग-धन्धों को सञ्जीवित करके, पूँजीवादी पद्धति, तथा ब्रिटिश साम्राज्य वाद से सर्वथा स्वतन्त्र रहकर, हमारी ग़रीबी और हमारे शोषण को घटाता है तथा पूँजीवाद की जड़को उखाड़ता है। इस दृष्टि से देखने पर यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि पूँजीवादी शोषण का और पूँजीवाद का अन्त करने की सच्ची कुञ्जी मार्क्स-वाद के पास नहीं, गान्धीवाद के पास है। महात्मा गान्धी सच्चे साम्य-वाद के मूर्तिमान अवतार हैं। जिस साम्य-वाद को मार्क्स-वाद सौ वरस में और सोवियत रूस पच्चीस वरस में भी नहीं स्थापित कर सका था, वह गान्धी-वाद द्वारा इससे थोड़े समय में, कम से कम श्रम से अधिक से अधिक दर्शन के समता-साम्य के

सिद्धान्तानुसार, सहज ही में, स्थापित हो जायगा। मैक्स ईस्ट मैन का यह कथन सर्वथा सत्य है कि कार्ल मार्क्सकृत पूँजीवाद की विश्लेषणात्मक आलोचना तो संसार में अद्वितीय रही परन्तु मार्क्स ने अपने उद्देश्य को सुस्पष्ट और निश्चित न करके भारी भूल की। आर्थिक और सामाजिक विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया से स्वतः ही पूँजीवाद का पतन और प्रोलीतेरियत की विजय की मार्क्स की ऐतिहासिक अनिवार्यता सम्बन्धी धारणा और प्रोलीतेरिएत डिक्टेटरशिप द्वारा श्रेणी-भेद को मिटाकर राज के मुरझाने और राज-हीन श्रेणी-हीन साम्यवादी समाज की स्थापना सम्बन्धी लेनिन की धारणा दोनों ही सदोष हैं, दोनों के दोष मार्क्सवाद की आलोचना वाले अध्याय में भली भाँति दिखाये जा चुके हैं, परन्तु गांधी-वाद द्वारा पूँजी-वाद का जो मूलोच्छेदन होता है तथा उससे जो आर्थिक और राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्त होती है वह सहज, तार्किक और कार्य-कारण सम्बन्ध मयी है। जैसे हम दूध से दही की, सरसों से तेल की, आम के पौधे से आम की आशा रखते हैं वैसे ही हमें गान्धी-वाद से भी शोषण-हीन स्वाधीन समाज की आशा होती है।

सिद्धान्त और आदर्श की दृष्टि से गान्धी जी का साम्यवाद कार्ल मार्क्स के साम्यवाद से कहीं अधिक शुद्ध ऊँचा, व्यापक और तर्क तथा विज्ञान सम्मत है। वीसवीं सदी का भौतिक विज्ञान विश्व और मनुष्य के अध्यात्मिक आधार को स्वीकार करता है भौतिक आधार को नहीं। अर्थात् गांधी-वाद नवीनतम वैज्ञानिक सिद्धान्तों द्वारा समर्पित है, मार्क्स-वाद उन्नीसवीं सदी

के इस समय स्वयं वैज्ञानिकों द्वारा परित्यक्त भ्रमात्मक सिद्धान्तों पर एक वाक्य में, गान्धीजी का साम्यवाद वैज्ञानिक है, मार्क्स का समाजवाद वैज्ञानिक दावा करते हुये भी अवैज्ञानिक है। अर्वाचीन मनोविज्ञान जहाँ भौतिक-वाद का विरोधी है परन्तु गान्धी जी का साम्यवाद समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान तथा भौतिक विज्ञानों से अनुमोदित है। गान्धी-वाद मनुष्यता के मञ्च पर सभी को समान मानता है। परन्तु वह अवैज्ञानिक और मूर्खता पूर्ण समता का नहीं समता के सिद्धान्त तथा उसकी भावना को अपने कार्य-क्रम का आधार बनाता है। उसमे श्रम की अधिक से अधिक महत्ता को मानते हुये भी गुणकर्म-स्वभावजन्य योग्यता तथा सामर्थ्यानुसार श्रम-विभाग की योजना है। यानी गान्धी-वाद में सिद्धान्तों और आदर्शों का तथा कार्य-क्रमों और व्यवहारों का पूर्ण सामञ्जस्य है। गान्धी जी का साम्यवाद धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों में उनके हरिजनों के मन्दिर-प्रवेश तथा हिन्दू-मुस्लिम मेल सम्बन्धी कार्य-क्रम में कार्यान्वित हो रहा है। राजनैतिक क्षेत्र में काँग्रेस के विधान में, जिसमें कोई भी काँग्रेस के ध्येय से सहमत होने पर, केवल चार आना देकर उसका मेम्बर हो सकता है। इस साम्य-वाद की तुलना आप साम्य-वादी तथा समाज-वादी दलों की मेम्बरी की शर्तों से करें तो आपकी आँखें खुल जायेंगी और आप को मालूम हो जायगा कि सच्चा राजनैतिक साम्य-वाद कहाँ है? गांधी जी का आर्थिक साम्य-वाद काँग्रेस के मौलिक अधिकारों सम्बन्धी कराची और उसके बाद फैजपुर के कार्य-क्रम में तथा अखिल

भारतीय चरखा-संघ की कम से कम वेतन सम्बन्धी गान्धीजी की आज्ञा के रूप में समस्त संसार के सामने है। गान्धी जी का स्वदेशी-सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय साम्य-वाद का सर्वोत्तम व्यावहारिक रूप है। गान्धी-वाद पूँजीवाद और मजदूरीवाद दोनों से परे मानववाद है। यह शक्ति गाँधीजी में ही है कि वे राजा-महाराजाओं की मंडली में रंग-मंच पर खड़े होकर यह कह सकें कि तुम्हारे ये वस्त्राभूषण खून से सने हुये हैं? जो गान्धीजी यह कह सकता है कि अगर मेरे अधिकार की बात होती तो मैं इन उद्धत राज महलों को कभी का ढहा देता उससे बढ़कर साम्य-वादी और क्रान्तिकारी और कौन हो सकता है? रिचार्ड० बी० ग्रेग का यह कथन सर्वथा सही है कि संसार में इस समय जो अनेक प्रगति धारायें वह रही हैं उनमें महात्मा गांधी द्वारा लाई गई गंगा में मूल्यों और प्रतीकों का सब से अधिक परिवर्तन-प्रदर्शित होता है। गांधी-वाद और मार्क्स-वाद में गांधी-वाद कहीं अधिक लचीला, सर्वव्यापी और सम्भवतः अधिक टिकाऊ है। इस समय इन दोनों प्रणालियों का जो रूप है उसे देखते हुए, मार्क्स-वाद के लिए गाँधी-वाद के महत्व-पूर्ण तथ्यों को ग्रहण करना उतना आसान नहीं जितना गांधी-वाद के लिए साम्य-वादी कार्य-क्रम के महत्व पूर्ण भागों को चुनकर और अपनाकर उनका इस्तेमाल करना। यानी गांधी-वाद मार्क्स-वाद से बेहतर तथा कहीं अधिक क्रान्तिकारी है" संसार का पिछली दो दशाब्दियों का इतिहास इस कथन की सत्यता का साक्षी है। इन दो दशाब्दियों में संसार के सभी स्वाधीन चेता विचारकों ने

यह अनुभव कर लिया है कि साम्य-वाद और समाज-वाद के अन्य सब स्वरूप जहाँ निर्जीव और निष्फल सिद्ध हो रहे हैं वहाँ रूस पर शासन करने वाला कम्यूनिस्त मार्क्स-वाद भी आज स्वयं रूस में ही खटाई में पड़ गया है ! मार्क्स-वाद की कमर टूट गई है और अब उसमें कहीं भी इतनी शक्ति नहीं रही कि वह तन कर खड़ा हो सके। अब साम्य-वाद की एकमात्र आशा मार्क्स-वाद नहीं गान्धी-वाद है।

गान्धी-वाद और मार्क्सवाद का साधन सम्बन्धी भेद आमूल और आधार-भूत है। मार्क्स-वादी मैकियावेली की इस बात में विश्वास करते हैं कि साधन श्रेष्ठ हो तो निकृष्ट से निकृष्ट साधन भी यदि वह उस साध्य की सिद्धि करे तो श्रेष्ठ ही है। लैनिन और ट्राटस्की दोनों का यही कहना है कि हिंसा और अनीति दोनों ही विहित हैं यदि उनसे पार्टी की कार्य-सिद्धि होती है। उनकी राय में पार्टी के रास्ते में अड़चन डालने वाला धर्म धनी-धूर्त्तों का ढोंग है और पार्टी के रास्ते में आड़े आने वाला सदाचार शोषकों तथा शासकों का स्वाँग। इतना ही नहीं उन्होंने धर्म, सभ्यता, संस्कृति, सदाचार सब के दो बँटवारे कर रक्खे हैं जिन क्रूर कर्मों और दुराचारों से पार्टी और उसके मेम्बरों को फ़ायदा पहुँचे वे सब सर्वहाराओं के मुख्य कर्त्तव्य हैं, और सत्य, धर्म दया, अहिंसा अस्तेय आदि को भी सदाचार पार्टी तथा उसके मेम्बरों को बाधक सिद्ध हों वे सब बुर्जुआओं की बाजीगरी मात्र हैं।

इसके विपरीत महात्मा गान्धी की दृष्टि में बुरे साधनोंने

अच्छे साध्य कभी सिद्ध ही नहीं हो सकते। वे साध्य-साधन की अभेदता और अनुकूलता में विश्वास करते हैं। उनका विश्वास है कि सत्याग्रह और अहिंसात्मक असहयोग ही मानव समाज के समस्त शोषण और पाशविक शक्ति-सम्भूत शासन का अन्त करने के सर्वोत्तम शस्त्रास्त्र हैं। जहाँ मार्क्सवाद विशेषकर लेनिन का मार्क्सवाद, पूँजी-वादी राज को पलटकर शासन की बागडोर तथा उत्पत्ति के सब साधनों पर अधिकार करने के लिए, प्रोलेतेरियन की डिक्टेटरशिप स्थापित करने के लिए, श्रेणी संघर्ष, गृह-युद्ध और हिंसा तथा पशु-बल का प्रयोग को ऐतिहासिक आवश्यकता अर्थात् अनिवार्यतः आवश्यक समझते हैं वहाँ महात्मा गान्धी हिंसा को निश्चित रूप से हानिकर तथा अहिंसा को ही श्रेयस्कर मार्ग समझते हैं।

और, समय की गति कहिये, अथवा संसार की प्रगति, गान्धी जी के साथ, अहिंसात्मक असहयोग तथा सत्याग्रह के पक्ष में है! सन् १८७० के बाद लेनिन-वादी कम्यूनिस्टों को छोड़ कर संसार भर के समाज-वादियों और साम्यवादों ने यह अनुभव कर लिया कि सार्वजनिक हिंसा से, हिंसात्मक क्रान्ति से पूंजीवाद तथा साम्राज्य-वाद का अन्त तथा साम्य-वाद-समाज-वाद की स्थापना असम्भव है। इनकी राय में रूस की मार्च की क्रान्ति हिंसात्मक क्रान्ति नहीं पतझड़ था, अन्धे के हाथ बटेर थी और यह पहले ही अन्यत्र बताया जा चुका है कि नवम्बर की कम्यूनिस्ट क्रान्ति की सफलता उतनी हिंसात्मक नहीं जितनी प्रचारात्मक थी स्वयं लेनिन की सरकार को यह कहना पड़ा था कि इतनी कम खून-

खराबी शायद ही किसी क्रान्ति में हुई हो। रूस की इस राज्य-क्रान्ति के बाद का समस्त संसार का इतिहास तो महात्मा गान्धी के अहिंसात्मक संघर्ष का ही समर्थन करता है। हिन्दुस्तान के पिछले पच्चीस बरस के इतिहास को लीजिए। कांग्रेस के अलावा यहाँ जनाधिकार सम्बन्धी जितने सफल आन्दोलन हुए वे सब अहिंसात्मक थे और इन आन्दोलनों में हिस्सा लेने वाले सब के सभी या तो उन कौमों के लोग थे जिन्हें हिन्दुस्तान की सरकार ने फौजी करार दे रखा है या वे जो अहिंसा की आलोचना करते करते कभी नहीं अघाते। मसलन, सिक्खों ने गुरुद्वारों के सुधार के लिए जो अहिंसात्मक आन्दोलन किया वह सफल हुआ। जब कि बब्बर अकालियों का हिंसात्मक आन्दोलन असफल रहा! मराठों को मुल्शी पेठा में और सरहदी सूबे के पठानों को भी अहिंसात्मक सत्याग्रह से ही सफलता मिली थी। निज़ाम हैदराबाद के विरुद्ध आर्य समाजियों को और भागलपुर में १६४१ में हिन्दू-महासभा को अहिंसात्मक सत्याग्रह से ही काम लेना पड़ा था। इनमें कहीं भी डाक्टर मुंजे या वीर सावरकर की तलवार या हिंसा नहीं काम आई। हिन्दुस्तान के उन मुसलमानों की भी जो कभी जोश में आकर, दलील के लिए यहाँ तक कह डालते हैं कि अहिंसा शरियत के खिलाफ़ है, उनको सन् १६३६ के तबर्रा और मदहे साहिबा वाले मामले में, शिया और सुन्नी दोनों को अहिंसात्मक भद्र अवज्ञा की शरण लेनी पड़ी थी। इसी तरह अप्रैल सन् १६४० में सुभाषबाबू ने जो आन्दोलन उठाया था। वह भी अहिंसात्मक भद्र अवज्ञा के

अलावा और कुछ नहीं था।

अब हिन्दुस्तान से बाहर चलिए। सीरिया, ईजिप्ट और फिलस्तीन के अरबी मुसल्मानों ने हिन्दुस्तान का अनुकरण करके अपने-अपने राजनैतिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए अपने आन्दोलनों को अहिंसात्मक असहयोग और भद्र-अवज्ञा का रूप दिया। सन् १६२१ में जर्मन जैसी लड़ाकू क़ौम ने भी रूर में अहिंसात्मक असहयोग और भद्र-अवज्ञा के अस्त्र का प्रयोग किया था। जापान के विरुद्ध चीन ने स्वाधीनता-रण सम्बन्धी संग्राम के विषय में विशेषज्ञ निरीक्षकों का यह कहना है कि इसमें जितनी सफलता मिली है वह उतनी सशस्त्र युद्ध से नहीं जितनी राष्ट्रीय असहयोग और भद्र-अवज्ञा से मिली। हिन्दुस्तान की लैनिन-वादी कम्यूनिस्ट पार्टी ने अपने बीस बरस के जीवन में सार्वजनिक हिंसात्मक आन्दोलन कहीं भी नहीं किया, जो कुछ किया अहिंसात्मक ढङ्ग से और गान्धी-वादी पिकेटिंग, भूख हड़ताल आदि साधनों का आश्रय लेकर। सन् १६३४ से लेकर अब तक का जर्मनी का और सन् १६२३ से लेकर १६४३ तक का इटली का इतिहास इस बात का साक्षी है कि वहाँ कम्यूनिस्ट-पार्टी इतने दिनों में चूँ तक नहीं कर सकी। उनके साधन तथा उनका कार्य-क्रम एक दम असम्भव सिद्ध हुआ। मशहूर अन्तर्राष्ट्रीय पत्रकार ने अपनी The days of one year नामक पुस्तक में लिखा है कि हिटलर के शक्ति-ग्रहण के समय जर्मनी की कम्यूनिस्ट पार्टी भीगी बिल्ली की तरह चुप चाप बैठी रही—उसने चूँ तक नहीं की। अब तक के विहगाव-

लोकन से इतना स्पष्ट है कि जो लोग अपने अज्ञान तथा मनो विकारों के कारण हिंसा को ही, हिंसात्मक क्रान्ति को ही एक मात्र साधन समझते हैं वे तुलसीदास जी के उन प्रसिद्ध पुरुषों की श्रेणी में आते हैं जिन्हें जगद्-गति नहीं व्यापती। अन्यथा आज समस्त संसार का लोकमत इस नतीजे पर पहुँच रहा है कि संसार भर में शोषक और शासक वर्गों की अर्वाचीन संहारक शक्ति को देखकर हिंसात्मक क्रान्ति की सफलता की कल्पना एक दम असम्भव कल्पना है। इस समय संसार भर के शासित और शोषित-वर्गों, जन-साधारणों के पास अपने अधिकारों की रक्षा तथा प्राप्ति का अहिंसात्मक असहयोग और भद्र-अवज्ञा के उन साधनों के अतिरिक्त जो महात्मा गांधी की, गांधी-वाद की देन हैं और कोई साधन उपलभ्य नहीं है।

और यह साधन, यह शस्त्र, निर्बल तथा कुण्ठित भी नहीं है। दक्षिण अफ्रीका, विशेष कर हिन्दुस्तान में, एक नहीं अनेक बार, हम इस की चमत्कारिक शक्ति को देख चुके हैं। एक बार फैजा-बाद के एक कार्यकर्त्ता ने वहाँ के कार्यकर्त्ताओं की मीटिङ्ग में यह प्रश्न किया कि अहिंसा-वाद ने हमें बधिया कर दिया है। इस पर लेखक ने उन्हें याद दिलाई कि पञ्जाब-हत्या काण्ड के समय जब अहिंसा का जन्म भी नहीं हुआ था पञ्जाब के शूर सांडों में से एक भी ऐसा नहीं निकला था जो पेट के बल रेंगने या जमीन पर नाक रगड़ने से इनकार करे लेकिन आज अहिंसा की ऐसी हजारों बधिया निकलेंगी जो ऐसे हुक्मों को बहादुरी के साथ ठुकरा देंगी और ऐसा करते हुये अपने प्राणों की हनिक

भी परवा नहीं करेंगी ।

कहने का मतलब यह कि अहिंसा का मन्त्र अभय का मन्त्र है। अहिंसा का शस्त्र आत्म-त्रज्ञ का शस्त्र है। इस द्वितीय विश्व-व्यापी-युद्ध में, चीन, पोलैण्ड, रूस आदि के उदाहरणों में हमने यह देखा है कि हिंसात्मक युद्धों से दस-पाँच लाख के प्राणों की आहुति देने पर भी सफलता नहीं मिलती और पचास-पचास लाख तक की आहुति देने पर भी कभी मिलती है, कभी नहीं। इसके प्रतिकूल यदि हम में से, अहिंसात्मक सत्याग्रह-संग्राम में पाँच-पचास हजार भी वीरता पूर्वक अपनी बलि चढ़ादें तो हम यह देख सकेंगे कि अहिंसात्मक बलिदानों की शक्ति हिंसात्मक युद्धों से कहीं अधिक है। जब तक हम हिंसात्मक युद्धों में जितनी धन-जन-हानि सहलेते हैं उसकी एक फी सदी भी अहिंसात्मक बलिदानों के प्रयोग में न सहें तब तक हमें अहिंसा के साधन को हिंसा से कम कारगर और कम फल-प्रद मानने का कोई अधिकार नहीं है, सच बात यह है कि हमने अभी अहिंसा के इस नये शस्त्र को अभी पूरी तरह आजमाया ही नहीं है। उसका पूरा प्रयोग करके देखा ही नहीं है। जब कभी हमने उसका प्रयोग करते हुये थोड़ा-बहुत बलिदान किया है तब उससे अधिक तर आशातीत सफलता मिली है और जब कभी मुख्योद्देश की सिद्धि नहीं भी हुई तब भी शेष सब दिशाओं में हमें लाभ ही हुआ है और हमारी शक्ति, ही बढ़ी है। इन प्रयोगों से हम में आत्म-विश्वास बढ़ा है और विपत्तियों में हमारे प्रति भय मिश्रित आदर-भाव उत्पन्न हुआ है।